# जैन-जीवन-दर्शन की पृष्ठभूमि

डॉ० दयानन्द भार्गव
प्राचार्य
श्रीरणवीर-केन्द्रीय-संस्कृत-विद्यापीठ, जम्मू

श्रीरणवीर-केन्द्रीय-संस्कृत-विद्यापीठ, जम्मू
१९७५

Price 20-00
मूल्य 20-00

प्रकाशक : **डॉ० दयानन्द भार्गव**
© श्रीरणवीर-केन्द्रीय-संस्कृत-विद्यापीठ, जम्मू

प्रथम संस्करण : १९७५

शान्तिलाल जैन, जैनेन्द्र प्रेस, बंगलो रोड, जवाहर नगर,
दिल्ली-७ द्वारा मुद्रित ।

# चिन्तन-सूत्र


| | | |
|---|---|---|
| १. | समस्या : असंगति | १ |
| २. | धर्म : वस्तुस्वभाव | ६ |
| ३. | धर्म : पुण्यपापातीत स्थिति | १० |
| ४. | ज्ञान : एक आन्तरिक गुण | १३ |
| ५. | सुख : एक मूलभूत कामना | १६ |
| ६. | पुण्य : सुख का साधन | १८ |
| ७. | धर्म : साधन नहीं साध्य | २१ |
| ८. | भेदाभेद : एक समन्वय | २५ |
| ९. | सुखान्वेषण : एक इतिहास | २७ |
| १०. | सुखप्राप्ति : विधिपरकदृष्टि | ४१ |
| ११. | रत्नत्रय : इकाई | ४४ |
| १२. | कषाय : ऋणात्मक शक्तियां | ४७ |
| १३. | कषायनिषेध : पंचव्रत का अमूर्त रूप | ४८ |
| १४. | जीवाजीव : एक अनादि सम्बन्ध | ५१ |
| १५. | मुक्ति : स्वतन्त्रता | ५५ |
| १६. | स्याद्वाद : सम्वाद | ५७ |
| १७. | कालवाद : कालजयी | ५९ |
| १८. | स्वभाववाद : प्रकृतिवादी | ६३ |
| १९. | नियतिवाद : भाग्यजयी | ६६ |
| २०. | पुरुष : अपना भाग्यनिर्माता | ७५ |
| २१. | भौतिकवाद : यदृच्छावाद | ८१ |
| २२. | जाति, जन्म : पुरुषार्थ | ८६ |
| २३. | पुरुष : ईश्वर और ब्रह्म | ८७ |
| २४. | पञ्चपरमेष्ठी : व्यक्ति | ९१ |
| २५. | सम्यग्दर्शन : सच्चा श्रोता | ९३ |
| २६. | मुनि : ध्यानपद | ९५ |
| २७. | मुक्ति : प्रेम और आनन्द | ९८ |

१

# समस्या : असंगति

मूल समस्या है मेरी अर्थात् व्यक्ति की। मैं एक व्यक्ति हूँ यह भी संदेहास्पद है। यदि मैं एक व्यक्ति हूँ तो कौन सा? जब मैं तर्क के धरातल पर सोचता हूँ तो मेरी चिन्तनधारा दूसरी होती है; जब मैं भावना के स्तर पर सोचता हूँ तो दूसरी। जब मेरे मन में बहुत लम्बे काल से चले आने वाले संस्कार मुखर होते हैं तो मैं दूसरा व्यक्ति होता हूँ, और जब मेरा विवेक प्रबुद्ध हो जाता है तब मैं दूसरा व्यक्ति होता हूँ। जब मैं भाग्य पर भरोसा करता हूँ, जब मैं पराश्रित होता हूँ, तो जो व्यक्ति मैं होता हूँ वह उससे सर्वथा भिन्न है जो मैं उस समय होता हूँ जब मैं अपने पुरुषार्थ पर, अपने बाहुबल पर, अपने पर विश्वास करते समय होता हूँ। जिस समय मेरी प्राकृतिक (वस्तुतः तो इन्हें प्राकृतिक नहीं, प्रत्युत वैकृतिक कहना चाहिए, किन्तु अभी हम इस शब्द का प्रयोग उस अर्थ में कर रहे हैं जिस अर्थ में सामान्यतः किया जाता है) इच्छाएँ मुझे अपने हाथ की कठपुतली बना लेती हैं, तब मैं किसी और ही प्रकार नाचने लगता हूँ और जिस समय मैं अपनी बुद्धि की लगाम को अपने हाथों में लेकर अपनी इन्द्रियों को, अपने उंगली के इशारे पर नचाता हूँ उस समय मैं दूसरा ही व्यक्ति हो जाता हूँ।

जब कभी मैं अपने इन विविध रूपों पर—अपने इस विराट् रूप पर विचार करता हूँ तो मुझे अपने पर रोना और हँसना एक-साथ आता है। जो कुछ मैंने अपने एक रूप में किया होता है अपने दूसरे रूप में मुझे वह सर्वथा असंगत और बेहूदा नज़र आता है। क्या मैं एक व्यक्ति हूँ, या बहुत सारे व्यक्तियों की अव्यवस्थित भीड़ मात्र हूँ? मेरे व्यक्तित्व का एक पक्ष, जो सर्वथा अपने आप में एक पूर्ण व्यक्तित्व सा लगता है, जिसका निर्माण करता है, मेरे अपने ही अन्दर बैठा हुआ एक दूसरा व्यक्ति, उसका विध्वंस कर देता है। यह तमाशा क्या है? मेरा कोई चिन्तन ऐसा नहीं, जिसके मूल में मैं न बैठा होऊँ। और मेरे इस "मैं" की यह दशा है कि मेरे इन विविध रूपों में से असली "मैं" कौन-सा है, यह पहचानना ही दूभर हो गया है। मैं

अपने ही परस्पर विरोधी व्यक्तित्वों की भीड़ में मानों खो-सा गया हूँ। किसी भी समस्या पर विचार करूँ, यह समस्या तो सब समस्याओं की जड़ में बैठी हुई है। मुझे सुख चाहिए, मुझे दुःख नहीं चाहिए, मैं ऐसा करता हूँ, मैं ऐसा करता था, मैं ऐसा कर दूँगा, मैं ऐसा जानता हूँ, मैं ऐसा देखता हूँ। यानी "मैं" कहीं कर्ता है, कहीं भोक्ता है, कहीं ज्ञाता है, कहीं द्रष्टा, पर है सब जगह। और मेरा सारा जीवन उन क्रियाकलापों में बीत जाता है जिनका केन्द्र "मैं" है।

किन्तु इन सब क्रियाकलापों से मुझे मिलता क्या है? मेरा एक व्यक्तित्व जिसका निर्माण करता है, दूसरा उसे निर्ममता से कुचल डालता है। जिसका दूसरा निर्माण करता है उसे तीसरा कुचल डालता है। और मैं अपने आपसे ही लड़ता हुआ, जूझता हुआ, संघर्ष करता हुआ, जाने किस अज्ञात लक्ष्य की ओर बढ़ा चले जाता हूँ। मैंने अपने मन से ही किसी को शत्रु, किसी को मित्र मान रखा है। पर ईमानदारी से कहूँ कि क्या किसी और शत्रु ने मेरा इतना नुकसान किया है जितना मैंने स्वयं अपने आप? और क्या किसी और मित्र ने मुझे इतना लाभ पहुँचाया है जितना मैंने आज तक अपने आपको अपने अप्रमत्त, सावधान, जागरूक व्यवहार द्वारा पहुँचाया है? महावीर ने कहा,[1] श्रीकृष्ण ने कहा[2] और न जाने किन-किन लोगों ने कहा कि मनुष्य अपना आप ही शत्रु है, आप ही मित्र है। हे मनुष्य, तू बाहर अपने मित्रों को क्यों खोजता है? स्वावलम्बी बन। तू अपना मित्र आप ही है।[3]

इस सबका क्या अभिप्राय है? धर्म तो एक पदार्थ है, ज्ञेय है, विधेय है। उसका विधाता, उसका ज्ञाता, उसका पालक तो मैं हूँ। मैं पहले अपने को तो समझूँ। अन्ततोगत्वा मेरा कौन-सा स्वरूप सत्य है? जीवन में न जाने कितनी बार मुझे निर्णय लेने होते हैं, कितनी बार दुविधाएँ आकर खड़ी हो जाती हैं। मेरा एक रूप कहता है ऐसा करो, दूसरा मन होता है ऐसा करूँ। मैं किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाता हूँ। गीता कहती है कि इस विषय में कवि भी व्यामोह में पड़ जाते हैं कि क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए।[4]

१. अप्पा मित्तममित्तं च दुप्पट्ठियसुपट्ठिओ।
उत्तराध्ययन २०.३०.

२. आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मन:
गीता ६. ५.

३. आचाराङ्ग १. ३. ३. ४.

४. किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिता:।
गीता ४,१६.

यह समस्या क्या इतनी गूढ़ है ? प्रतीत तो ऐसा होता है कि यह बुद्धि तो सब में सहज होती है कि क्या करना है और क्या नहीं करना ? फिर मनीषियों को कैसा व्यामोह ? सत्य है, कर्तव्य-अकर्तव्य का ज्ञान न्यूनाधिक मात्रा में सब में सहज है। किन्तु प्रश्न यह है कि कर्तव्य-अकर्तव्य तो सापेक्ष हैं। कर्त्ता के बदलने पर कर्तव्य भी बदल जाता है और कठिनाई यह है कि सबका व्यक्तित्व इतनी शीघ्रता से बदलता है कि क्षण में कुछ और क्षण में कुछ। तो क्या कर्तव्य भी क्षण-क्षण बदलेगा ? होना तो यही चाहिए। किन्तु प्रश्न यह है कि जो कुछ बदलता है वह मेरा वास्तविक स्वरूप है, मेरा अपना स्वभाव है, या विभाव अर्थात् वे तत्त्व जो मैंने अपने चारों ओर से अपने अन्दर संगृहीत कर लिए हैं ?

और स्वभाव और विभाव की ही पहचान क्या सरल है ? बाहर से ग्रहण किये तत्त्व क्या इतने अधिक सघन तो नहीं हो गये कि उनके नीचे दबा हुआ स्वभाव पहचानना ही दुर्लभ हो जाये ? लगता ऐसा ही है। हमने ऊपर कहा कि हमारा व्यक्तित्व खण्ड-खण्ड हो गया है, टूट चुका है। वह एक अखण्ड इकाई नहीं है। "मुण्डे मुण्डे मतिर् भिन्ना" की बात तो कही ही जाती है पर हम स्वयं भी तो क्षण-क्षण में भिन्न" हो जाते हैं, खण्डित हो जाते हैं। एक क्षण हमें धन इतना प्रिय लगता है और धर्म की भावना इतनी क्षीण पड़ जाती है कि मानो वह कभी थी ही नहीं, और एक क्षण प्रवचन के आवेश में हम इतने बह जाते हैं कि मानो हममें वित्तैषणा का नाम ही नहीं है। जिस समय हममें धन की लोलुपता प्रबल होती है तो न हमें अपयश की बाधा आती है, न परलोक का भय सताता है, और हम धन की प्राप्ति के लिए कुछ भी कर गुजरने के लिए कटिबद्ध हो जाते हैं। दूसरे ही क्षण हमें अपना यश इतना प्रिय होता है, हमारी लोकेषणा इतनी प्रबल होती है कि हम उसके लिए धन को पानी की तरह बहाने के लिए तैयार हो जाते हैं, और जिस समय हममें वासना प्रबुद्ध होती है तो कुछ सूझता नहीं है, पागल हो जाते हैं। इन सब तथ्यों में परस्पर क्या संगति है ? मैं फिर वही प्रश्न दुहराता हूँ कि हम एक व्यक्ति हैं या बहुत से व्यक्तियों की अव्यवस्थित असंगत भीड़ मात्र हैं ?

और जब मुझमें स्वयं अपने में इतनी असंगतियाँ हैं, इतने परस्पर विरोधी तत्त्व हैं, इतनी अव्यवस्था है, तो भला दूसरे व्यक्ति में और मुझ में क्या संगति होगी, क्या साम्य होगा, क्या तालमेल बैठेगा ? मैं अपने स्वभाव का निश्चय स्वयं करने चलूं तो क्या कर पाऊंगा ? मेरा कौन-सा स्वरूप मौलिक है, आधार-भूत है, स्वाभाविक है, सत्य है और कौन-सा स्वरूप कृत्रिम है, ऊपर से ओढ़

लिया गया है, वैभाविक है ? और यह प्रश्न तब और भी जटिल हो जाता है जब हम अपने आसपास दूसरे व्यक्तियों पर दृष्टि डालें क्योंकि जो मुझे सर्वथा अरुचिकर है, वह दूसरों को प्राणों से भी अधिक प्रिय है और जो दूसरे को अत्यन्त प्रिय है, मैं उसे कभी भी नहीं स्वीकार करूँगा, चाहे अपने प्राणों से हाथ भी धोना पड़ जाय । तब उचित क्या है, और अनुचित क्या ? लगता है गीता ने जब यह कहा कि कर्म क्या है और अकर्म क्या है इसका जानना कवियों के लिये भी कठिन है, तो कोई अतिशयोक्ति नहीं की थी ।

किन्तु विचारणीय यह है कि क्या मेरे अपने इन विविध रूपों में कोई ऐसी कड़ी है जो इन सबको जोड़ती हो और फिर क्या हम सब में एक ऐसी समान कड़ी है जो हम सबको जोड़ती हो अर्थात् क्या कोई ऐसा मूलभूत तत्त्व है जो सबमें समान हो ? क्योंकि यदि ऐसे मूलभूत तत्त्व को हम एक बार पकड़ लें तो फिर उसके आधार पर एक ऐसे ढांचे का निर्माण किया जा सकता हैं जो मेरे अपने लिए हर अवस्थाओं में सत्य हो और जो हम सब के लिये सब अवस्थाओं में सत्य हो । क्या कोई ऐसा तत्व है जो हम सब में मूलभूत है, समान है, दूसरे शब्दों में कहें तो जिसने हमें हमारी सत्ता प्रदान की है, जिसने हमें धारण किया है ? और भी दूसरी प्रकार कहें तो कहना चाहिए कि जो हमारा स्व-स्वभाव है ?

पाश्चात्य दार्शनिकों ने "ऐथिक्स" की बहुत चर्चा की है । यह शब्द हमारे यहाँ प्रचलित "धर्म" शब्द से न केवल भिन्न है, प्रत्युत कई अर्थों में उसके विपरीत भी हैं । इस शब्द का प्रादुर्भाव ग्रीक "एथोस" शब्द से हुआ जिसके दो अर्थ हैं—**रीतिरिवाज** या **आदत**[1] । जो कुछ हमने आस-पास के वातावरण से ग्रहण किया वह हमारा रीतिरिवाज है, हमारी परम्परा है और उसका पालन परम्परा का पालन है। वह ऐथिक्स है । किन्तु जो कुछ हमने अपने आस-पास के वातावरण से ग्रहण किया, वह मेरा अपना नहीं है, उसे मैंने बाहर से ग्रहण किया है । "एथोस" शब्द के दूसरे अर्थ 'आदत' पर ध्यान दें, तो लगेगा कि आदतें भी मैंने उपलब्ध की हैं । जिस क्रिया की बार-बार पुनरावृत्ति हुई, वह मेरी आदत बन गई, मेरा चरित्र बन गया । किन्तु यह "ऐथिक्स" का स्वरूप दोनों ही अर्थों में ऐसा है कि इसमें बाह्य तत्त्व अधिक महत्वपूर्ण हैं । चाहे परम्परा हो चाहे आदत, दोनों उपलब्धियाँ हैं, दोनों प्राप्तियाँ हैं । किन्तु जो पदार्थ बाहर से उपलब्ध किया वह मेरी अपनी प्रकृति तो नहीं है, क्योंकि

१. Muirhead, John H., *The Elements of Ethics*, लन्दन, १६१०, पृ० ४ ।

वह विजातीय है। उसका समस्त विकास क्या मेरी उस असंगति को, जिस का अभी हमने उल्लेख किया, विनाश कर सकेगा ? मेरे अपने अन्दर जो सुर बेसुरा हो गया है, और हम सबके जीवन में जो संगीत के स्थान पर बेसुरापन आ गया है, क्या बाह्य तत्त्व, चाहे उन्हें हमने समाज से परम्परा के रूप में ग्रहण किया है, और चाहे हमने अपने ही भूतकाल से उन्हें संस्कारों के रूप में उपलब्ध किया है, हमारे जीवन में संगति का संगीत उत्पन्न कर सकेंगे ?

हमने ऊपर कहा है कि क्या कोई ऐसे मौलिक तत्त्व हैं जिन्हें हममें से निकाल लिया जाय तो हम हम ही न रहें ? यह एक काल्पनिक प्रश्न है क्योंकि वस्तुतः तो इस प्रश्न के उत्तर में जो तत्त्व प्राप्त होगा वह हमारा अविभाज्य अंग होगा; उसे हममें से पृथक् नहीं किया जा सकेगा। और जो हमने कहा कि हम हम न रहें, सो भी एक असम्भावना है क्योंकि पदार्थ की सत्ता न नष्ट की जा सकती है और न उत्पन्न[1]। पर फिर भी यह प्रश्न रोचक है क्योंकि इसके उत्तर में हमें अपना स्वभाव प्राप्त हो सकता है, वह स्वभाव जो हमारे इस असंगति के बेसुरे सुर में, शायद एक शान्त मौन किन्तु अत्यन्त मनोरम संगीत उत्पन्न कर दे, जो हमारा अपने से चलने वाले संघर्ष को विलीन कर दे और जो हमारे दूसरे से चलने वाले संघर्ष को भी विलीन कर दे क्योंकि एकत्व का दर्शन होने पर अनेकत्व, जो संघर्ष का मूल है, विलीन हो जाएगा। अनेकत्व भी दो प्रकार का हो सकता है—एक सत्ता का अनेकत्व, एक धर्मों का अनेकत्व, अर्थात् एक पदार्थ दूसरे पदार्थ से द्रव्य की दृष्टि से भिन्न हो सकता है और स्वभाव की दृष्टि से भी भिन्न हो सकता है। वास्तविक संघर्ष भाव की दृष्टि से भिन्नता का है, द्रव्य की दृष्टि से भिन्नता का नहीं। महावीर ने कहा कि जिसे तुम मारना चाहते हो, उत्पीड़ित करना चाहते हो, वह तुम स्वयं ही हो। तो यहां द्रव की एकता का प्रतिपादन नहीं किया जा रहा, प्रत्युत भाव की दृष्टि से ही एकता का प्रतिपादन किया जा रहा है। यदि वह भावात्मक ऐक्य हमें प्राप्त हो सकता है, तो उसका एक ही मार्ग है और वह है मौलिक आधारभूत स्व-स्वभाव का ज्ञान।

१. नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
गीता २. १६.

२

# धर्म: वस्तुस्वभाव

वस्तु का स्वभाव धर्म है। ऐसा महावीर ने कहा। यह परिभाषा वस्तु-परक है व्यक्तिपरक नहीं। इसे जब व्यक्तिपरक बनाएंगे तो आत्मस्वभाव ही धर्म है, ऐसा अर्थ फलित होगा। हमने ऊपर कहा कि पाश्चात्य दर्शनों में ऐथिक्स शब्द न केवल धर्म के सही अर्थ को बतलाने में असमर्थ है, प्रत्युत कहीं-कहीं धर्म से विपरीत अर्थ का भी द्योतक है। इसका अभिप्राय यह है कि धर्म वस्तु का स्वभाव है, उसका आत्मधर्म है; किन्तु परम्परा या आदत जिसे हम "ऐथिक्स" शब्द से कहते हैं वह वस्तु का सहज स्वभाव नहीं है प्रत्युत बाहर से उपलब्ध स्वभाव है। यह उपलब्ध स्वभाव वस्तुतः स्वभाव नहीं है, विभाव है। यह धर्म नहीं है, धर्माभास है। यदि धर्म शब्द के इस अर्थ पर विचार करें तो हमें लगेगा कि रूढ़िवाद के मूल पर कुठाराघात होता है। रूढ़ियां समाज की देन हैं, धीरे-धीरे विकसित होने वाली हमारे सहज स्वभाव से बाह्यभूत घटनाएँ हैं। वे धर्म कैसे हो सकती हैं? हां, एक परम्परा को मानने वाले अपनी परम्पराओं को पवित्र मानकर अपने को एक गुट मान लें, तो वह एक सम्प्रदाय बन सकता है। किन्तु यह सम्प्रदाय धर्म नहीं है। धर्म और सम्प्रदाय का कार्य एक दूसरे के सर्वथा विपरीत है। धर्म हमारी विभिन्नताओं को, विविधता को दूर करके एकता की स्थापना करता है और सम्प्रदाय हमें हमारी विभिन्नताओं के आधार पर विभक्त करता है। धर्म जोड़ता है, सम्प्रदाय तोड़ता है।

किन्तु धर्म का अर्थ परम्परा का पालन भी अवश्य रहा है। यह परम्परा हमें शास्त्रों में सुरक्षित मिलती है और विश्व के सभी मनीषियों ने शास्त्र की महत्ता पर अत्यधिक बल दिया है। स्वयं महावीर ने कहा है 'मेरी आज्ञा धर्म है[1]।' मीमांसा दर्शन के रचयिता जैमिनि कहते हैं, धर्म वही है जो शास्त्र में कहा गया है[2] गीता में कृष्ण ने कहा कि कार्य और अकार्य का यदि विवेक करना हो, तो शास्त्र ही प्रमाण है।[3] मनुस्मृति में वेद और स्मृति को धर्म के

१. आणाए मामगं धम्मं।

आचाराङ्ग १.६.२.१८०.

२. चोदनालक्षणोऽर्थः धर्म्मः।

मीमांसादर्शन, बनारस १९२९, १.१.२.

३. तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।

गीता, १६.२४.

लक्षणों में प्रथम स्थान दिया गया।[1] क्या यह सब वाक्य झूठे हैं ?

यहां हमें विवेक से कार्य लेना होगा। वस्तुस्थिति यह है कि आज तर्क का युग है और विज्ञान बिना तर्क के एक पग भी नहीं चलता। ऐसी स्थिति में क्या हम शास्त्र को बिना ननु नच किये प्रामाणिक मान सकते हैं ? यह एक आधुनिक युग का गम्भीर प्रश्न है। तर्क कहां कार्य करता है ? जहां भेद हो, जहां द्वैत हो, जहां द्रष्टा और दृश्य का ज्ञाता और ज्ञेय का विवेक हो। किन्तु धर्म हमें उस सत्य की ओर ले जाना चाहता है जहां समस्त भेद विलीन हो जाते हैं। तब वहां ऊहापोह किसका होगा और कौन करेगा ? धर्म हमें उस मूलभूत स्वभाव तक ले जाना चाहता है जहां तर्क की गति नहीं है। क्या इन प्रश्नों का कोई उत्तर है कि जल ठण्ठा क्यों है या आग गर्म क्यों है ? यदि तर्क द्वारा इन प्रश्नों का उत्तर दिया जा सके, तो धर्म भी तर्क की कसौटी पर कसा जा सकेगा, क्योंकि धर्म भी तो आत्मा का स्वभाव है। स्वभाव अन्तिम होता है, उसके आगे कोई विश्लेषण नहीं हो सकता। इसीलिए पंचाध्यायी में राजमल्ल ने कहा कि स्वभाव तर्कगोचर नहीं है।[2] उससे पहले भी महावीर ने आचारांग सूत्र में कहा कि तर्क द्वारा तथ्य को नहीं जाना जा सकता और मनुस्मृति[3] में भी कहा गया है कि जो शास्त्र को तर्क के आधार पर चुनौती देता है, वह नास्तिक है। तर्क की यह सारी निन्दा धर्म के प्रसंग में किस लिए की गई है ? इसके विपरीत श्रद्धा का बहुत अधिक गुणगान है। तो क्या इसका यह अभिप्राय है कि धर्म अन्धविश्वास सिखाता है ? ऐसा नहीं है। क्योंकि जिन परम्पराओं में तर्क की यह निन्दा है, उन्हीं परम्पराओं में यह भी तो कहा गया है कि धर्म वही है जिसे तर्क की कसौटी पर कसा जा सके।[4] महात्मा बुद्ध ने भिक्षुओं से कहा था कि मेरी बात इसीलिये नहीं मानो कि वह मैंने कही है, बल्कि उसे विवेक की कसौटी पर कसो और यदि सच लगे तो मानो।

१. वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥
मनुस्मृति, बम्बई, १८६४, २.१२.

२. स्वभावोऽतर्कगोचरः।
पञ्चाध्यायी, इन्दौर, वी० नि० सं० २४४४, २.५३.

३. योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विजः।
सः साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः।
मनुस्मृति, २.११.

४. यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः।
मनुस्मृति १२.१०६.

बात दोनों ही सच हैं। हमने ऊपर कहा कि धर्म वस्तु का मूलभूत स्वभाव है और वहां तर्क की गति नहीं है। यदि वहां तर्क की गति है, तो इसका यह अर्थ है कि अभी और विश्लेषण किया जा सकता है और मौलिक सत्य हमें उपलब्ध नहीं हुआ है। किन्तु जहां तर्क मौलिक सत्य को जानने में असमर्थ होने के कारण धर्म के क्षेत्र में पंगु है, वहां मौलिक तत्त्व तक पहुंचने के लिये बीच में आने वाले वैभाविक तत्त्वों का विश्लेषण द्वारा निःसारता प्रदर्शित करने में उपयोगी भी है। अतः धर्म अन्धविश्वास नहीं है। धर्म तर्कविरुद्ध भी नहीं है, वह तर्कातीत अवश्य है, क्योंकि वह स्वभाव है और इतनी बात तो कम से कम तर्कसंगत है ही कि स्वभाव तर्कगोचर नहीं होता, उसमें तर्क की गति नहीं है। वह मूलभूत तथा आधारभूत वह तथ्य है जिस पर सारे तर्क का निर्माण होता है। यदि उसे न मानें तो संसार के सारे तर्क निराधार हो जाएंगे। किन्तु उस तथ्य से पहुंचने के पूर्व, जैसाकि हमने पहले कहा, तर्क का पूर्ण महत्त्व है।

और इसीलिये धर्म का स्रोत केवल शास्त्र नहीं है। शास्त्र उन मूलभूत स्वभाव का उद्घाटक होने के नाते सर्वप्रथम अवश्य आता है, किन्तु वह एकाकी नहीं है। मनुस्मृति[१] ने शास्त्र के साथ-साथ सदाचार और आत्मप्रियता को भी धर्म का लक्षण माना है। आचार्यों ने महावीर के वचनों का धर्म का स्रोत मानने के साथ-साथ अहिंसा, संयम और तप को भी माना है।[२] आचार्य कुन्दकुन्द ने धर्म को चरित्र नाम दिया।[३] अभयदेव ने भी यही किया।[४] किन्तु यह सब विस्तार चाहे उसे हम चरित्र नाम दें, अहिंसा, संयम या तप कहें या सदाचार का नाम दें, है एक ही मूल वस्तु का नाम और वह है आत्मस्वभाव की उपलब्धि। क्योंकि धर्म का मूल लक्षण वस्तु का स्वभाव है। यह कहना कि हम धर्म धारण करते हैं, एक विरोधाभास है; मानो हम धर्म को जब चाहें तब धारण करें, और जब चाहें तब छोड़ दें। पर वस्तुस्थिति यह है कि हम धर्म को धारण नहीं करते, धर्म हमें धारण करता है।

हमने जो कुछ ऊपर कहा, उससे यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि धर्म का स्वरूप दोनों प्रकार का है—विधि-रूप भी और निषेध-रूप भी। वह भोग भी

१. मनुस्मृति २.१२.

२. धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो।

दशवैकालिक, १.१.

३. चारित्तं खलु धम्मो।

प्रवचनसार १.७.

४. धर्मश्चारित्रलक्षणम्।

अभयदेव की टीका, स्थानाङ्ग, ४.३.३२०.

है, और त्याग भी; वह आत्मस्वरूप का भोग है और अनात्मस्वरूप का त्याग। किन्तु आत्मस्वरूप का भोग ऐसा भोग नहीं है, जिसे जुटाना पड़े; वह स्वतः प्राप्य है। हां, अनात्म स्वरूप का त्याग अवश्य प्रयत्नसाध्य है। त्याग स्वयं में एक निषेधात्मक शब्द है, और इसीलिए धर्म के प्रसङ्ग में निषेधात्मक शब्दों का अधिक प्रयोग होता है। अभी हमने धर्म के लक्षणों में तीन गुण गिनाए—अहिंसा, संयम और तप। लगेगा कि ये तीनों ही शब्द हमें कुछ करने के लिये उतना प्रेरित नहीं करते, जितना कुछ न करने के लिए। किन्तु ये जिसके करने का निषेध करते हैं, वह यदि न किया जाए, तो यह मानना होगा कि जो तत्त्व व्यक्ति को, उसके अन्तर में घुस कर उसे खण्डित-खण्डित किये हुए हैं, वे विलीन हो जाएंगे और एक समन्वित, सामंजस्यपूर्ण, सुसंगत व्यक्ति का उदय होगा। यदि ये तथ्य हट जाएँ, तो समाज की अराजकता और अव्यवस्था दूर हो जाएगी। प्रकृति कहीं भी शून्य को नहीं रहने देती. यदि एक तत्त्व हटा दिया जाता है, तो दूसरा तत्त्व वहां स्वतः आ जाता है। इसलिये संसार में प्रत्येक भाव का जोड़ा है, राग और द्वेष, काम और क्रोध, इनमें से एक जाता है तो दूसरा आ जाता है। इस प्रकार शून्य नहीं हो पाता। यह भावों का तांता इतना निरन्तर चलता है कि उसके नीचे बैठा हुआ वह जो इन भावों का स्वामी है, दृष्टि में ही नहीं आता।

हमने ऊपर कहा कि प्रकृति कहीं भी शून्य नहीं रहने देती। यह ऐसा बतलाने के लिये कि धर्म का निषेध रूप भी एक विधि रूप का विधायक है। किन्तु यह निषेध ऊपर लिखे हुए जोड़ों का नहीं है। निषेध केवल द्वेष का नहीं है, राग का भी है क्योंकि ये जोड़े एक दूसरे से इतने घनिष्ठ रूप में जुड़े हुए हैं, कि एक के बिना दूसरा रह नहीं सकता और जहां एक रहता है, वहां दूसरा भी अवश्य रहता है। अहिंसा को परम धर्म बतलाया है। अहिंसा परमो धर्मः। इसका क्या अर्थ है? अहिंसा का अर्थात् हिंसा का अभाव। हिंसा द्वेष का नाम है। किन्तु यदि अहिंसा का अर्थ द्वेष का अभाव कर लिया जाय, तो वह परम धर्म नहीं हो सकता क्योंकि वैभाविक तत्त्वों में वहां आधे का निषेध है, आधा भाग राग अभी शेष है और यदि राग शेष है तो द्वेष भी अवश्य है। धर्म दो में से एक का चुनाव नहीं है, वह पूर्ण का निषेध है ताकि पूर्ण की प्राप्ति हो सके। यह पूर्ण की प्राप्ति ही धर्म का विध्यात्मक रूप है। इसलिए धर्म निषेध रूप है और पूर्ण निषेध रूप है। वह अच्छे और बुरे में से एक का चुनाव नहीं है, किन्तु अच्छे और बुरे दोनों का त्याग है। किन्तु वह सर्वथा निषेध रूप भी नहीं है क्योंकि इस निषेध में अन्तर्निहित भावना निषेध की नहीं, उपलब्धि की है—स्वस्वरूप के भोग की उपलब्धि।

३

# धर्म : पुण्यपापातीत स्थिति

हमने ऊपर कहा कि धर्म चुनाव नहीं है, वह निषेध है। इसका अर्थ यह है कि धर्म केवल तर्कातीत नहीं है, वह कर्मातीत भी है, पुण्यपापातीत भी है। पुण्य और पाप का जोड़ा है। यह आत्मा विभाव के ही दो रूप हैं जो उसके स्वभाव की प्राप्ति में बाधक हैं। समस्त शास्त्र एक स्वर से यह घोषणा करते हैं कि शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के कर्म जीव को बांधते ही हैं, मुक्त नहीं करते। एक सोने की श्रृंखला है, दूसरी लोहे की श्रृंखला है।[1] जिस तोते में उन्मुक्त गगन में विचरण करने की तड़प है, उसे सोने का पिंजरा लोहे के पिंजरे से कम दुखदायी नहीं है। जिसे स्वरूप की प्राप्ति की उत्कट इच्छा है, उसके लिए वे विरूप कर्म, जो केवल व्यक्ति में विसंगति पैदा करते हैं, कोई महत्त्व नहीं रखते। शुभ कर्म भी व्यक्ति को एक इकाई बनाने में असमर्थ हैं, वे भी उसकी दुविधा मिटाने में असमर्थ हैं। क्या कोई ऐसा शुभकर्म है जो सब प्राणियों को सब समयों में समान सन्तोष प्रदान कर सके? कोई ज्ञान के वितरण में अपने आपको महान माने हुए है, कोई धन के दान का अभिमान लिये अपने को धर्मात्मा मानता है, कोई निर्धन और अपाहिजों की सेवा शुश्रूषा में अपने को धन्य मानता है। किन्तु चिन्तन के एकांत क्षणों में क्या सबको यह अनुभव नहीं होता कि वे अभी कृतकृत्य नहीं हुए? यह सारा विधि-विधान केवल मनुष्य के लिये एक भुलावा मात्र रहता है और वह अपने जीवन में कृतकृत्यता का अनुभव किये बिना ही समाप्त हो जाता है। अन्ततः क्या हमारे समस्त तथाकथित पुण्य कर्म भोग और ऐश्वर्य की प्राप्ति की इच्छा से प्रेरित नहीं होते? क्या महाभारत में व्यास ने तथाकथित पुण्य कर्मों को करते समय व्यक्ति के मन में अन्तर्निहित रहने वाली वासना को ही दोनों भुजाएँ उठाकर नहीं घोषित किया था, जब यह कहा कि धर्म से अर्थ और काम की प्राप्ति होती है तो फिर धर्म का सेवन क्यों न किया जाए?[2] तो क्या धर्म काम और

१. सौवण्णियं पि णियलं बंधदि, कालायसं पि जह पुरिसं।
बंधदि एव जीवं सुहमसुहं वा कदं कम्मं॥

समयसार, दिल्ली, १६५६, गाथा १४६.

२. धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते।

महाभारत, पूना, १६३३, १८.५.६२.

ज्ञान-मीमांसा और आचार-मीमांसा दोनों परस्पर इतने घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध हैं कि उनका पृथक् करना असम्भव है। महात्मा बुद्ध यह कहते थे कि मुझे इतना ही जान लेना पर्याप्त है कि मेरे बाण लगा है और वैद्य उस बाण की चिकित्सा कर सकता है। यह प्रश्न सर्वथा व्यर्थ है कि वह बाण किस प्रकार की लकड़ी का बना हुआ है कि उसे मारने वाला किस जाति का व्यक्ति था और वैद्य किस जाति का है? इस प्रकार महात्मा बुद्ध ने आत्मा, परमात्मा और परलोक सम्बन्धी बहुत से प्रश्नों को अव्याकृत कहकर अनुत्तरित ही रहने दिया। उदाहरणत: मोक्ष के बाद आत्मा की स्थिति रहती है या नहीं, महात्मा बुद्ध ने इसका उत्तर नहीं दिया। पर इतिहास इस बात का साक्षी है कि महात्मा बुद्ध के अपने अनुयायी भी उनके बारम्बार निषेध करने के बावजूद इन प्रश्नों में खूब उलझे और इनके समाधान खोजने का उन्होंने अन्य मतावलम्बियों से किसी भी दृष्टि से कम प्रयास नहीं किया। ऐसा क्यों है? क्या हम यह कहेंगे कि ये महात्मा बुद्ध के शिष्यों की एक कमजोरी थी कि वे इन व्यर्थ के दार्शनिक वादविवादों से बचकर नहीं रह सके? वस्तुस्थिति यह है कि मनुष्य के बहुत से जो स्वाभाविक गुण हैं उनमें से सत्य की जिज्ञासा भी एक स्वाभाविक गुण है। उसे व्यर्थ कह देने से गुज़ारा नहीं होता। मनुष्य जो कुछ करना चाहता है, उससे पहले यह जान लेना चाहता है कि सत्य क्या है? क्योंकि उसे ज्ञात है कि सत्य को जाने बिना उसका आचरण ठीक कदापि नहीं हो सकता। जैन धर्म ने धर्म शब्द का जहाँ एक ओर वस्तु-स्वभाव अर्थ किया, वहाँ दूसरी ओर आचार या चारित्र्य अर्थ भी किया। जिसका अर्थ यह है कि उन्होंने इस सत्य को अच्छी तरह जान लिया था कि वस्तु के स्वरूप का ज्ञान और चारित्र्य का पालन इतने अधिक घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध हैं कि उन्हें पृथक् नहीं किया जा सकता। जानना आत्मा का एक स्वाभाविक गुण है और उसकी जिज्ञासा की कोई सीमाएँ नहीं बाँधी जा सकतीं। वह अज्ञात से अज्ञात पदार्थ की अगाध गहराइयों में उतरना चाहता है। यह कहना ठीक नहीं है कि उसकी यह जिज्ञासा उसके लिए कल्याणकर नहीं है।

४

# ज्ञान : एक आन्तरिक गुण

किन्तु महात्मा बुद्ध ने जो कुछ कहा था वह भी गलत नहीं था। अनेकांत की दृष्टि में गलत कुछ होता ही नहीं। महावीर ने कहा—सत्य ही लोक में सारभूत है।[1] गीता में कहा है कि संसार में ज्ञान से अधिक पवित्र कुछ नहीं है।[2] ज्ञान की अग्नि समस्त संसारों को क्षण भर में भस्मसात् कर देती है।[3] पाश्चात्य दार्शनिक यह कहते रहे कि ज्ञान ही वास्तविक बल है। तब महात्मा बुद्ध ने यह क्यों कहा कि हमारी ये जिज्ञासाएं अनावश्यक हैं; मोक्ष की प्राप्ति में सहायक नहीं हैं, प्रत्युत बाधक हैं। वस्तुस्थिति यह है कि हम ज्ञान में और सूचनाओं के संग्रह में भेद नहीं कर रहे। हम तथ्यों पर तथ्य जानते चले जा रहे हैं। पर उन तथ्यों का जो जानने वाला है, उसका ज्ञान हमें नहीं है और इसलिए हमारा वह समस्त ज्ञान, शास्त्र की दृष्टि से कहें तो मिथ्या ज्ञान है और अगर कुछ कोमल भाषा का प्रयोग करते हुए आधुनिक ढंग से कहें, तो वह सूचना मात्र है। वह मेरे अन्दर से उद्भूत नहीं हुआ, बाहर से आया है। यह प्रत्यक्ष है कि ज्ञान का मूल स्रोत मेरे अन्दर है, मेरे बाहर नहीं। बाहर जितने पदार्थ हैं, सब ज्ञेय हैं। ज्ञाता मेरे स्वयं के अन्दर उपस्थित है। फिर बाहर से प्राप्त होने वाला ज्ञान ज्ञान कैसे कहला सकता है? विशेषकर यदि ज्ञाता का ज्ञान ही न हो, तो बाह्य पदार्थों का ज्ञान क्या करेगा? और फिर यदि जीवन का लक्ष्य ठीक नहीं है, यदि जीवन की दिशा गलत है, तो मेरे सारे ज्ञान और मेरे सारे कर्म मुझे कहाँ ले जाएँगे? ज्ञान और क्रिया एक पंछी के दो पँख हैं, और श्रद्धा उसकी आस्था है, जो उसे यह प्रतिक्षण बोध कराती

१. सच्चं हि लोए सारभूयं।

—प्रश्नव्याकरण, २

२. न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।

गीता, ४.३८.

३. ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा।

गीता, ४.३.७.

है, कि वह उन्मुक्त गगन में विहरता हुआ, अपने मूल नीड़ में पहुँच सकता है जहाँ उसके सारे अवयव विश्राम पा सकते हैं, जहाँ उसके सारे प्रयास कृतकृत्य हो सकते हैं। यदि आस्था नहीं तो ज्ञान व्यर्थ है, यदि ज्ञान नहीं तो क्रिया व्यर्थ है। अतः महात्मा बुद्ध ने जब इन प्रश्नों को अनावश्यक कहा तो उनका यह अभिप्राय था कि व्यर्थ की सूचनाएँ संग्रह के करने में लगा रहना वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति में बाधक है। अन्यथा तो वे स्वयं बुद्ध थे। उन्हें बोधिलाभ हुआ था भला वे बोध का निषेध कैसे करते ? पर महात्मा बुद्ध का उपदेश भी आज हमारे लिए एक महान् सन्देश का कार्य करता है कि हम ज्ञान के मूल स्रोत को देखें, व्यर्थ के तथ्यों को एकत्रित कर-करके हम आन्तरिक ज्ञान के अभाव की पूर्ति उसी प्रकार नहीं कर सकते, जिस प्रकार जिस कुएं के आन्तरिक जल स्रोत सूख गये हों, उसको ऊपर से पानी डाल-डाल कर नहीं भरा जा सकता। कुएं के आन्तरिक स्रोत से निकल कर आने वाला जल ही कुएँ का जल कहलाने का अधिकारी है, यों चाहे कहने के लिये हम उसमें ऊपर से ला लाकर पानी डालते रहें, और यह मानते रहें कि कुएं में पानी है। हमारी अन्तरात्मा के भी आन्तरिक जलस्रोत बन्द पड़े हैं। उन पर न जाने किन-किन संस्कारों की मिट्टी चढ़ चुकी है। तब क्या हम बाहर से सूचनाएं प्राप्त कर करके अपने आपको ज्ञानवान् बना सकेंगे ? क्या यह बाहर से सूचनाओं का डाला गया जल इस कारण सड़ नहीं जाएगा कि इसका कूप से कोई तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है। सच पूछें तो यह ऊपर से डाला गया जल तो मूल स्रोतों पर से मिट्टी हटाने में बाधा ही पहुँचाएगा। इस दृष्टि से यदि विचार करें तो लगेगा कि महात्मा बुद्ध ने इन प्रश्नों को और इनके सम्बन्ध में की जाने वाली कल्पनाओं को ठीक ही निर्वाण-सुख को प्राप्ति में बाधक कहा था।

हमारा यह बाहर से आने वाला ज्ञान ही व्यर्थ नहीं है, वे समस्त कर्म भी जिन पर हम अपनी राग-द्वेष बुद्धि से अच्छापन या बुरापन आरोपित कर लेते हैं, वे भी उसी प्रकार व्यर्थ हैं। जल अनेक कारणों को पाकर अनेक गुणों को धारण कर सकता है पर जब इसे अपने आप पर छोड़ दिया जायगा, तो यह स्वयं ही ठंडा हो जाएगा। शीतलता जल का स्वभाव है और इसीलिये यह स्वयं सदा शीतलता की ओर उन्मुख रहता है।

हमने कहा कि बाह्य ज्ञान या केवल तथ्यों की सूचना हमारा कुछ हिताहित नहीं कर सकतीं, आरोपित कर्म भी हमारा कोई हिताहित नहीं करता। केवल स्वभाव का ज्ञान ही उपादेय है। वैभाविक कारण स्वभाव के ज्ञात होने में बाधक हैं। वेदान्ती कहते हैं कि आत्मा का स्वरूप सच्चिदानन्द रूप है। आत्मा का यह 'सच्चिदानन्द' विशेषण उसके मूलभूत स्वाभाविक गुणों को

बहुत सीमा तक स्पष्ट कर देता है । मेरी सत्ता-या यों कहूं कि आत्मा की सत्ता स्वतः सिद्ध है, उसके लिये किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं है । इसमें भी किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं कि आत्मा को या मुझे ज्ञान होता है, पदार्थों का बोध होता है । और न इस विषय में किसी को सन्देह हो सकता है कि वह आनन्द की प्राप्ति के लिये ही निरन्तर प्रयत्नशील है । यह बात दूसरी है कि वह किस चीज में आनन्द माने किन्तु आनन्द की उत्कट इच्छा सब में है ।

५

# सुख : एक मूलभूत कामना

यों इच्छा तो हममें अनन्त हैं—धन की इच्छा, यश की इच्छा, पुत्र की इच्छा, ज्ञान की इच्छा और न जाने कौन-कौन सी इच्छाएं। किन्तु यह सभी इच्छाएं मूलभूत नहीं हैं। मूलभूत इच्छा हम उसे कहेंगे जहां जाकर इच्छाएँ रुक जाएं, 'क्यों' का प्रश्न समाप्त हो जाए। यह प्रश्न किया जा सकता है, कि हम धन क्यों चाहते हैं, हम यश क्यों चाहते हैं, हम ज्ञान क्यों चाहते हैं। किन्तु यदि हम इस प्रश्न पर विचार करें कि हम सुख क्यों चाहते हैं तो हमें रुकना पड़ेगा। इस प्रश्न में अपने आप में एक असंगति सी, एक अटपटापन सा नजर आएगा, मानों यहां प्रश्नों का अन्त हो जाता है, जिज्ञासा का अन्त हो जाता है। यहां आकर जिज्ञासा समाप्त हो जाती है। हमने ऊपर कहा कि जल शीतल क्यों है, अग्नि उष्ण क्यों है, यह प्रश्न ऐसे हैं जिनका उत्तर नहीं दिया जा सकता है, यह अति प्रश्न हैं। सुनते हैं कि एक बार जनक की सभा में गार्गी ने एक प्रश्न किया था जिसके उत्तर में याज्ञवल्क्य ने कहा कि हे गार्गी यह अतिप्रश्न है, तुम इसे मत पूछो। अन्यथा तुम्हारे सिर के टुकड़े-टुकड़े हो जाएंगे। अन्ततः तर्क की भी एक सीमा है। प्रश्नों का भी एक अन्त है और उस सीमा के अनन्तर किये जाने वाले प्रश्न अतिप्रश्न हैं। किसी पदार्थ के स्वभाव के सम्बन्ध में क्यों का प्रश्न भी ऐसा ही एक प्रश्न है। स्वभाव हमारे अधीन नहीं है। हमारे सारे विचार ही स्वभाव के अधीन हैं। यह प्रश्न तो नहीं किया जा सकता कि अग्नि उष्ण क्यों है; हां, यह प्रश्न किया जा सकता है, और इसका उत्तर भी दिया जाता है कि अग्नि को हाथ क्यों नहीं लगाना चाहिए। किन्तु इस प्रश्न के उत्तर में जब यह कहा जाय, कि अग्नि को नहीं छूना चाहिए क्योंकि वह गर्म होती है, तो यह उत्तर अपने आप में पूर्ण है, इसके आगे यह प्रश्न नहीं किया जा सकता कि अग्नि गर्म है क्यों? यह पूछा जा सकता है कि हम धन क्यों चाहते हैं और इसका उत्तर भी दिया जा सकता है कि धन से हमें अमुक-अमुक पदार्थ प्राप्त होते हैं। यह भी पूछा

जा सकता है कि हम उन अमुक-अमुक पदार्थों को क्यों चाहते हैं, और उसके उत्तर में हम बतला सकते हैं कि उन पदार्थों से हमारी अमुक-अमुक आवश्यकताएं पूरी होती हैं। यह भी प्रश्न हो सकता है कि हम उन आवश्यकताओं की पूर्ति क्यों चाहते हैं और उत्तर में यह कहा जा सकता है कि उन आवश्यकताओं की पूर्ति से हमें सुख मिलता है और यदि वे आवश्यकताएं पूरी न की जाएं तो दुख होता है। किन्तु यह पूछना अपने आप में ही बहुत बेतुका है कि हम सुख चाहते क्यों हैं, और यह क्यों चाहते हैं कि हमें दुख न हो। सुख हमें अच्छा लगता है, दुख हमें अच्छा नहीं लगता। पर यह तो प्रश्न का उत्तर नहीं है। सुख हमें अच्छा क्यों लगता है, दुख बुरा क्यों लगता है, और इसका यही उत्तर है कि इस 'क्यों' का कोई उत्तर नहीं है। सुख हमें अच्छा लगता है और अच्छा लगता है, दुःख हमें अच्छा नहीं लगता और अच्छा नहीं लगता। मानों हम उन सब जीवन के लक्ष्यों को प्रश्न कर कर के छांटते चले गये हैं और एक ऐसे अन्तिम लक्ष्य पर पहुँच गये हैं जो केवल लक्ष्य है, किसी का साधन नहीं है। धन किसी अन्य पदार्थ के लिये साधन है। अन्य पदार्थ किसी अन्य पदार्थ के लिये साधन है। पर सुख किसी का साधन नहीं है, वह स्वयं ही साध्य है, वह परम साध्य है। वह हमारी अन्तिम इच्छा है। वह मेरे स्वरूप की प्राप्ति है जहां आकर मुझे फिर अन्य किसी पदार्थ की आवश्यकता नहीं रह जाती, जहां आकर मैं टिक सकता हूँ, जिसके आगे चलने की इच्छा समाप्त हो जाती है, जहां जीवन की पूर्णता, कृतकृत्यता है। यह सुख न केवल जीवन का अन्तिम लक्ष्य है, चरम उद्देश्य है, प्रत्युत मेरा अपना स्वभाव भी है। यहां आकर न आगे कुछ करने की इच्छा रह जाती है, न कुछ जानने की।

हो यह रहा है कि हम सुख के साधनों को ही सुख समझ बैठे हैं। शास्त्रों में जो सुख का निषेध किया जाता है, सुख को भोग की हेय संज्ञा देकर उसके त्याग का उपदेश दिया जाता है, वह वस्तुतः सुख का निषेध नहीं है, सुख के साधनों को ही सुख मान बैठने का निषेध है। मुझे शास्त्र में एक भी ऐसा प्रसंग अब तक प्राप्त नहीं हुआ, जहां स्वयं सुख का निषेध हो, सुख को त्याज्य बतलाया हो। शास्त्र तो तीन प्रकार की एषणाओं को छोड़ने की बात कहते हैं—पुत्र की इच्छा, धन की इच्छा, यश की इच्छा हेय है। क्योंकि ये इच्छाएँ अपने आप में पूर्ण नहीं हैं, ये साधनों की इच्छाएं हैं, साध्य की इच्छा नहीं हैं और हमारे जीवन की दुर्घटना यह है कि हमने इन साधनों को साध्य मान लिया है।

बुद्धिमान पुरुष है, जो पुण्य को भी पाप ही मानता है।[१] ऊपर जो कुछ हमने कहा वे सब शास्त्रों के वचन हैं और चाहे हम उन्हें पढ़कर कितना ही क्यों न चौंके उनका एक ही अर्थ निकलता है कि यहां पुण्य की भी निन्दा है।

किन्तु हम सुख भोगों की निन्दा को सुनकर नहीं चौंकते तो फिर पुण्य की निन्दा को सुनकर क्यों चौंकते हैं? क्या पुण्य में और सुख में कारण-कार्यभाव नहीं है? क्या उनमें अविनाभाव-सम्बन्ध नहीं है? जहां पुण्य है, वहां सुखभोग अवश्य होंगे। और जहां सुखभोग है, वहां उससे पहले पुण्य अवश्य रहे होंगे। तो यदि एक की निन्दा है तो दूसरे की भी निन्दा की जाए, इसमें आश्चर्य की क्या बात है। किन्तु यह ध्यान में देने वाली बात है, कि जहां पुण्य की निन्दा करने वाले शास्त्र में से यह वाक्य हमने उद्धृत किये, वहां पुण्य की प्रशंसा करने वाले भी वाक्यों को खोज निकालना कोई असम्भव बात नहीं है। वस्तुतः देखा जाए तो समस्त शास्त्र पुण्य के विधि-विधानों से भरे पड़े हैं और हमारा सारा जीवन भी अर्चना, पूजा, दान, साधु सेवा इत्यादि पुण्य कार्यों में ही तो बीतता है। और हम इसे ही तो धर्म मानते हैं।

तब क्या हमारी यह सारी धारणा मिथ्या है? क्या अब तक शास्त्र के पुण्य विधान ने हमें वंचित किया? इसका उत्तर हां और नहीं दोनों में दिया जा सकता है। हमने ऊपर कहा कि सुख की इच्छा तो मनुष्य में स्वाभाविक है, किन्तु जो हम गलती करते हैं, वह यह कि हम सुख के साधनों को सुख मान बैठते हैं और वहीं रुक जाते हैं और जब हमें उनसे सुख मिलता नहीं, क्योंकि सुख उनमें तो है नहीं, वे तो सुख के निमित्त मात्र थे, तब हम कहने लगते हैं, कि संसार में सुख नहीं है, संसार दुखरूप है और इस प्रकार निराशावाद का जन्म होता है। और मनुष्य के लिये निराशा से बढ़कर मार्ग में और दूसरी कौन-सी बाधा आ सकती है? क्योंकि यदि आशा है तो आस्था है और यदि आस्था है तो आत्मनिष्ठा है और यदि आत्मनिष्ठा है तो परिस्थितियां मार्ग को नहीं रोक सकतीं।

लोग कहते हैं कि भारतीय-दर्शन निराशावादी है। यह उपदेश देता है कि संसार में दुख ही दुख है। किन्तु हम क्या उस व्यक्ति को जो वस्तुस्थिति को स्वीकार करता है, निराशावादी कहकर सचाई को टाल सकते हैं। क्या यह सचाई नहीं है कि समस्त सुखों के साधन उपलब्ध होने पर भी हम सुखी नहीं

१. जो पुण्णो वि पाउ वि भणइ सो बुह को वि हवइ।

—योगसार१७.

हैं । हमारे मन में एक असन्तोष है, हमारी आंखों में एक सूनापन है । मनुष्य प्रकृति का सर्वोत्तम प्राणी है, जीवन के विकास की परम्परा में अन्तिम सोपान है । मनुष्य से श्रेष्ठतर पदार्थ इस संसार में नहीं और मनुष्य की यह गति है कि फूल और पौधे जो जीवन के विकास की परम्परा में अत्यन्त निम्न स्तर के प्राणी हैं, वे हरे भरे हैं, खिले हुए हैं, प्रसन्न हैं, और मनुष्य मुर्भाया हुआ है जैसे उसका कुछ खो गया है । क्या इस जीव को यह मनुष्य की अत्यन्त विकसित देह इस प्रकार दुख में गला-गला कर समाप्त कर देने को मिली है ? यह एक वस्तुस्थिति है । इसका सामना करना होगा, इस आस्था के साथ कि यदि मनुष्य प्रकृति की सर्वोत्तम रचना है, तो वह प्रकृति में उपलब्ध सर्वोत्तम सुख का अधिकारी भी है । उसे अपनी विकसित इन्द्रियों और मन तथा बुद्धि के बल से उस सुख की प्राप्ति का जन्मसिद्ध अधिकार है जो सुख देवताओं को भी दुर्लभ है । इसमें निराशावाद कहां आता है ? हाँ वर्तमान से असन्तोष अवश्य है किन्तु असन्तोष तो उन्नति का मूल है ।[1] जहां सन्तोष है वहां प्रयास नहीं रहता । और जहां प्रयास नहीं है, वहां उन्नति कैसी ? सच पूछा जाय तो परिवर्तन प्रकृति का नियम है । या तो हमें उस परिवर्तन की दिशा को उन्नति की ओर मोड़ना होगा, और नहीं तो वह हमें अवनति की ओर ले जाएगा । प्रकृति में स्थिरता नहीं है, वहां निरन्तर गति है । यह गति यदि ऊर्ध्वमुखी हो सकती है, तो प्रयत्न से ही हो सकती है और नहीं तो पानी के समान नीचे की ओर बहना इसका स्वभाव है ।

किन्तु इस सब में निराशावाद कहां है ? हां यथार्थवाद अवश्य है । दुख जीवन की एक वास्तविक स्थिति है जिसे दिवा-स्वप्न ले-लेकर झुठलाया नहीं जा सकता और कबूतर के आंख मींच लेने से तो बिल्ली भाग नहीं जाती ? हम लोग मानें या न मानें दुःख तो है । किन्तु उस दुख के सामने जो अपनी आस्था को खो देता है, धर्म उसे निराशावादी मानता है, उसकी निन्दा करता है । चाहे इस निराशा का दायित्व हम अपनी विपरीत परिस्थितियों पर डालकर कितना ही दोष से मुक्त रहना चाहें, पर धर्म निराशा का दायित्व, दुख का दायित्व हमारी परिस्थितियों पर नहीं, स्वयं हम पर डालता है ।

१. असन्तोषः श्रियो मूलम्—महाभारत, सभापर्व ५५.११

७

# धर्म : साधन नहीं साध्य

हमने कहा कि सुख के साधनों को सुख मान बैठना बहुत बड़ी भूल है और उस ही प्रकार धर्म के साधनों को धर्म मान बैठना बहुत बड़ी भूल है। यह ठीक है कि साध्य की प्राप्ति हो जाने पर साधन का महत्त्व नहीं रह जाता। और साथ ही यह भी ठीक है कि साधन को अपनाये बिना साध्य प्राप्त नहीं होता किन्तु साधन और साध्य में विवेक रहना चाहिए। पुण्य धर्म का साधन है धर्म नहीं है। साधन तो संसार में एक साध्य के न जाने कितने होते हैं किन्तु वस्तुत: साधन कहलाता वह है जिससे यथार्थ जीवन में साध्य की प्राप्ति होती है। जब तक साध्य की ठीक-ठीक पहचान नहीं है, लक्ष्य की ओर दृष्टि नहीं मुड़ी, तब तक साधन बिखरे रहते हैं, पर उन्हें साधन कहना साधन शब्द का दुरुपयोग है क्योंकि साधन और साध्य तो सापेक्ष हैं। जब साध्य का ज्ञान ही नहीं, तो यह कहना चाहिए कि उसकी सत्ता ही नहीं और दो सापेक्ष पदार्थों में जब एक की सत्ता नहीं है, तो दूसरे की सत्ता कैसे हो सकती है ? यदि हमें धर्म का, अपने स्वभाव का, अपने मौलिक स्वरूप का ज्ञान नहीं है, जिसकी प्राप्ति के साधन ही समस्त कर्म हैं, तो कर्म अपने आप में क्या कर लेगा ? ऐसे व्यक्ति के किसी कर्म या प्रयास को इच्छा या बुरा क्या कहें जिसे यह ही मालूम नहीं कि उसे अपने इस प्रयास द्वारा प्राप्त क्या करना है ? उसके तो सारे ही कर्म, सारे ही प्रयास व्यर्थ हैं, वे किसी के भी साधन नहीं हैं क्योंकि वहां साध्य ही नहीं है, और यदि गलत साध्यों को साध्य मानकर उन साधनों को बरता जा रहा है, तो वे साधन उन गलत साध्यों को ही प्राप्त कराएंगे। इनमें उन साधनों का कोई दोष नहीं है।

अपने स्वरूप के ज्ञान के बिना, लक्ष्य के ज्ञान के बिना, हमारे तथाकथित पुण्य-कर्म धर्म की संज्ञा कैसे पा सकते हैं ? और जिसे अपने लक्ष्य का ज्ञान हो गया वह उन पुण्य कर्मों का लक्ष्य भोगों की प्राप्ति कैसे मान सकता है ?

ऊपर जो पुण्य की निन्दा की गई है, वह ऐसे व्यक्ति के पुण्य की निन्दा नहीं है, जो उन पुण्यों का लक्ष्य भोगों की प्राप्ति नहीं मानता और ऐसे ही व्यक्ति का कोई कर्म पुण्य कहला भी सकता है। ऐसे व्यक्ति के लिये पुण्यों का शास्त्र में विधान भी है।

थोड़ा सा ध्यान करें तो प्रतीत होगा कि पुण्यों के द्वारा प्राप्त होने वाले समस्त पदार्थ बाह्य पदार्थ हैं। इस बात को भी साधारण सा विचार करने पर प्रत्येक व्यक्ति समझ सकेगा कि सुख आत्मा में निष्ठ रहने वाला एक गुण है। बाहर के जड़ पदार्थ सुख के अधिष्ठान नहीं बन सकते। किन्तु इस प्रश्न को लेकर बहुत बड़ा वादविवाद चलता रहता है। कोई पुण्य की निन्दा में अपने को कृतार्थ मानता है, कोई पुण्य का विधान करने में अपने को कृतकृत्य मानता है, और कोई यह मानता है कि जैन और अन्य भारतीय दर्शन आचार और चरित्र को समझते ही नहीं। और इस सारे वाग्जाल से तंग व्यक्ति यह कह कर समस्या को टाल देता है कि हम इस पाप पुण्य के पचड़े में नहीं पड़ना चाहते। पड़ना कोई भी नहीं चाहता, किन्तु सचाई यह है कि हम बंधे हुए हैं। और उस बन्धन से मुक्त होने की इच्छा सबमें है। कोई मनुष्य यह कह सकता है कि उसे धर्म से प्रयोजन नहीं, उसे पाप-पुण्य के चक्करों में नहीं पड़ना, किन्तु यह नहीं कह सकता, कि उसे सुख नहीं चाहिए, उसे स्वतन्त्रता नहीं चाहिए। और यदि वह दुख की निवृत्ति के प्रश्न को और सुख की प्राप्ति के प्रश्न को नहीं टला सकता, तो वह धर्म अधर्म के प्रश्न को भी टला नहीं सकता। अन्ततोगत्वा पुण्य क्या है? अंग्रेजी का शब्द "गुड" जोकि ग्रीक के एक शब्द का रूपान्तर है पुण्य के लिए प्रयोग किया जा सकता है। इस शब्द का शब्दार्थ है वह क्रिया जो किसी लक्ष्य के लिये उपयोगी हो। किन्तु किसी लक्ष्य को सामने रखने पर उसके लिए क्या क्रिया उपयोगी है, क्या अनुपयोगी, यह निश्चय किया जा सकता है और उसके लिए नियम भी बनाये जा सकते हैं। वही क्रिया जो उन नियमों के अनुसार होती है, अंग्रेजी में "राइट" कहलाती है जो लैटिन के 'rectus' शब्द से निकली है। अभिप्राय यह है कि हमारे कार्यों का औचित्य या अनौचित्य लक्ष्य सापेक्ष हैं और यदि लक्ष्य सुख का है तो फिर हम जो भी नियम उस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये बनाएं, वे धर्म कहलाएंगे, यह दूसरी बात है कि एक व्यक्ति सुख का स्वरूप कुछ और माने दूसरा कुछ और माने और इस प्रकार वे धर्म का भी स्वरूप पृथक्-पृथक् मानें। किन्तु धर्म एक सुखदायिनी क्रिया के रूप में प्रत्येक व्यक्ति के लिये आवश्यक है, जो धर्म

को अनावश्यक कहते हैं, उनका अभिप्राय केवल यह होता है कि सामान्यतः धर्म के नाम पर जिन सिद्धान्तों की चर्चा होती है, वे सिद्धान्त उस लक्ष्य की ओर ले जाने वाले नहीं हैं, जिसे वे सुख मानते हैं और इसलिये वे उन सिद्धान्तों को भी निरर्थक मानते हैं।

एक उक्ति है कि बिना प्रयोजन के मूर्ख व्यक्ति भी कोई कार्य नहीं करता किन्तु इसका एक दूसरा पहलू भी है कि ऐसा व्यक्ति जिसे कोई प्रयोजन ही न हो, या तो पागल हो सकता है या फिर ऐसा व्यक्ति हो सकता है जिसने पूर्णता प्राप्त कर ली है, जो कृतकृत्य हो चुका है। यह मानना पड़ेगा कि हम न तो पागल हैं और न हमने पूर्णतः प्राप्त की है। फिर हमारे जीवन में कुछ न कुछ साध्य तो अवश्य होने चाहिएँ। और यदि हमारे जीवन में कुछ साध्य है तो फिर उसका साधन भी अवश्य खोजना होगा। हमने ऊपर कहा कि एक दृष्टि से पाप और पुण्य में कोई भेद नहीं है। पाप और पुण्य में यह अभेद दो दृष्टियों से देखा जा सकता है। प्रथम तो जिस व्यक्ति को अपने लक्ष्य का ज्ञान ही नहीं है, उसके लिये कोई भी कर्म अच्छा या बुरा इसलिये नहीं कहा जा सकता, कि बिना साध्य के वह साधन तो बनता नहीं। और यदि वह किसी साध्य का साधन नहीं बनता, तो फिर उसकी अच्छाई और बुराई का मापदण्ड क्या होगा? अभिप्राय यह है कि जिस व्यक्ति को अपने लक्ष्य का ज्ञान नहीं है, या लक्ष्य का गलत ज्ञान है उसके लिये पाप और पुण्य का भेद ही नहीं बनता। वह व्यक्ति स्वयं चाहे अपने कर्मों को अपने गलत निश्चित किये गये लक्ष्य की दृष्टि से पाप और पुण्य कहता रहे, किन्तु सत्य लक्ष्य की अपेक्षा उसके कर्म, पाप और पुण्य नहीं बन सकते। एक दूसरी दृष्टि भी है, जिससे पाप और पुण्य में अभेद किया जा सकता है। हमने ऊपर कहा कि जो व्यक्ति पूर्ण हो गया है, कृतकृत्य हो गया है, उसे कुछ प्राप्तव्य नहीं है। एक प्रकार से उसके जीवन में भी कोई लक्ष्य नहीं रह जाता। इसलिये उसके कर्मों को भी पाप या पुण्य की संज्ञा देना व्यर्थ-सा होगा। इस परमार्थ दृष्टि से भी पाप और पुण्य में भेद नहीं बनता।

किन्तु एक तीसरी स्थिति भी है; जिसमें व्यक्ति लक्ष्यभ्रष्ट भी नहीं हो सकता, उसे अपने लक्ष्यों का ज्ञान भी है, किन्तु वह अभी तक अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सका है, कृतकृत्य नहीं हो सका है। उसके लिये पाप और पुण्य का भेद बना रहेगा। वह यह जानेगा कि लक्ष्य की प्राप्ति हो जाने पर यह पाप और पुण्य का सापेक्ष भेद चाहे विलीन हो जाने वाला है, किन्तु जब

तक लक्ष्य प्राप्त नहीं होता, उसे केवल उन्हीं कर्मों में लगना है जो उसे लक्ष्य के निकट ले जाएं, न कि लक्ष्य से दूर हटायें। यदि गति का उदाहरण दें तो जिस व्यक्ति को गन्तव्य का ज्ञान ही नहीं, उसकी हर गति गलत मानी जाएगी यानी उसकी दृष्टि से अच्छी और बुरी गति में भेद नहीं किया जा सकता और वह व्यक्ति जो गन्तव्य पर पहुँच चुका है, अच्छी गति और बुरी गति में इसलिये भेद नहीं करेगा कि उसमें अब गति की आवश्यकता ही नहीं रह गई है। किन्तु मार्ग में स्थित व्यक्ति के लिये गति की दिशा और गति की पद्धति महत्त्वपूर्ण है।

८

# भेदाभेद : एक समन्वय

हमने जो विवेचन यहाँ किया है, उसमें पाप और पुण्य की स्थिति तो स्पष्ट होती ही है, एक अन्य महत्वपूर्ण तथ्य भी सम्मुख आता है। क्या संसार में हम किसी भी तथ्य को उसके वातावरण के परिप्रेक्ष्य से हटाकर देख सकते हैं? क्या संसार में कोई भी सत्य निरपेक्ष हो सकता है? हम पाप को बुरा और पुण्य को अच्छा कहते हैं और दूसरी ओर पाप और पुण्य दोनों की निन्दा करते हैं, दोनों को समान बतलाते हैं। और इस प्रकार आपाततः एक बहुत बड़े विरोध में पड़ रहे हैं। किन्तु क्या संसार में अभेद में भेद और भेद में अभेद नहीं दिखायी पड़ता? अन्ततः एकान्तिक सत्य क्या है? सभी सत्य तो किसी न किसी मान्यता से जुड़े हुए हैं, सापेक्ष हैं। जब तक हम यह दृष्टि नहीं अपनाएँगे, अपनी दृष्टि को ही सर्वोपरि और सर्वथा शुद्ध मानने का हमारा अभिमान नहीं टूटेगा और हमारी दृष्टि सीमित ही रह जाएगी; हम दूसरे की दृष्टि से कभी किसी समस्या पर विचार नहीं कर सकेंगे। इस प्रकार दूसरे भी हमारी दृष्टि को नहीं समझ सकेंगे और एक निरन्तर संघर्ष बना रहेगा। यह एक काल्पनिक भय नहीं है। धर्म और दर्शन का लम्बा इतिहास इस सत्य का साक्षी है कि वे सब संत महात्मा और आचार्य जो सच्चे मन से मानवता के कल्याण के लिये उपदेश देते रहे, जहाँ मनुष्य जाति की एक जीवन-ज्योति को सुरक्षित रखते रहे, वहाँ मनुष्य और मनुष्य में टकराव के कारण भी बने। अभिमान में भरा हुआ मनुष्य अपने-अपने मत को सत्य मानकर दूसरे के खून का प्यासा हो गया और अपने इस कृत्य पर लज्जित होने की बजाय उसने सदा गौरव का अनुभव किया कि वह सत्य की रक्षा के लिये असत्य से लड़ते समय अपने प्राणों पर भी खेल जाता है। किन्तु जब दो ऐसे गुट आपस में लड़ें तो दोनों के मन में यह पूर्ण विश्वास था, कि दोनों सत्य के लिये लड़ रहे हैं, दोनों असत्य के विरुद्ध लड़ रहे हैं, दोनों एक पुण्य कार्य कर रहे हैं। और मनुष्य के इतिहास की यह कैसी विडम्बना है कि वस्तु स्थिति यह होती है कि जब सत्य का नाम लेकर ऐसी लड़ाई की जाती है, तो दोनों ही पक्ष वस्तुतः सत्य पर होते

हैं। यह एक दृष्टि से कहा जा रहा है। दूसरी दृष्टि से यह भी कहा जा सकता है कि दोनों ही पक्ष वस्तुतः असत्य पर टिके हुए होते हैं। पर इस बात को वे दोनों पक्ष कभी भी नहीं समझ पाते और यदि एक तीसरा गुट इस तथ्य को समझ लेता है, तो वह एक तीसरा सत्य बन जाता है। किन्तु वह सत्य भी अभिमान की सीमा में बन्धकर असत्य बन जाता है। और तब वह उन दोनों गुटों से लड़ने के लिये तैयार हो जाता है। इस प्रकार गुट पर गुट बनते चले जाते हैं। सत्य के खण्ड खण्ड हो जाते हैं और सत्य के साथ-साथ मानवता के भी खण्ड-खण्ड हो जाते हैं और सत्य के साथ-साथ मानवता के भी खण्ड खण्ड हो जाते है और सम्पूर्ण सत्य, सम्पूर्ण मानवता ओझल हो जाती है। आचार्यों ने कहा है कि सत्य का अनन्तवां भाग जाना जा सकता है और जो अनन्तवां भाग जाना जा सकता है, उसका भी एक अनन्तवां भाग शास्त्रों में लिखा है पर हम शास्त्रों को पूरा पढ़ भी नहीं पाते, उसका एक थोड़ा-सा ही भाग पढ़कर यह मान लेते हैं कि हमने सम्पूर्ण सत्य को जान लिया, उन शास्त्रों के वाक्यों को बार-बार उद्धृत करते हैं और उससे सत्य की पुष्टि करने का दावा करते हैं। पर पुष्टि केवल हमारे अभिमान की होती है, हमारे इस ज्ञानाभिमान की कि हमें शास्त्र आता है। पर इससे न व्यक्ति का कल्याण होता है न मानवता का और न सत्य की उपलब्धि होती है। जैन धर्म ने यह कहा कि सब सत्य सापेक्ष हैं, अनेकांतिक हैं। किन्तु यह स्याद्वाद भी एक वाद बन गया, एक सम्प्रदाय बन गया। और यद्यपि प्राचीन आचार्यों ने अनेकान्तवाद को भी अनेकान्त रूप माना है किन्तु[1] हमें अनेकान्त का ही एकान्तिक आग्रह हो गया।

१. अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः—स्वयम्भूस्तोत्र, १८

६

# सुखान्वेषण : इतिहास

हम प्रकृत का अनुसरण करें और यह देखें कि हर व्यक्ति दुख की निवृत्ति और सुख की प्राप्ति चाहता है, यह एक दूसरी बात है कि उसके सुख का क्या चित्र उसके मन में है ? कहा जाता है कि एक बार नारद सनत्-कुमार के पास पहुँचे और उन्होंने सनत्कुमार से कहा कि मैंने समस्त वेद-वेदांग पढ़े हैं, किन्तु मैं दुख से छुटकारा नहीं पा सका। सुनते हैं कि जो अपने स्वरूप को जान लेता है, वह दुख से छुटकारा पा जाता है।[1] आप भी मुझे दुख के पार उतार दें।[2] नारद ने वेद और वेदांगों में क्या पढ़ा था कि वह दुख से छुटकारा नहीं पा सका ? उसने वेदों में यह अवश्य पढ़ा होगा कि मैत्री बहुत बड़ा गुण है कि मनुष्य को यह कामना करनी चाहिए कि वह सब के प्रति मैत्रीपूर्ण व्यवहार रखे और सब उसके प्रति मैत्रीपूर्ण व्यवहार रखें।[3] उसने यह भी पढ़ा होगा कि सत्य, तप, ऋत और यज्ञ इस संसार को धारण किये हुए है,[4] कि इस संसार की उत्पत्ति सत्य और तप से हुई[5] कि विद्या से ही अमृतत्व की प्राप्ति होती है,[6] अद्भुत बात है कि इतना जान लेने के बाद नारद

१. तरति शोकमात्मवित्—छान्दोग्योपनिषद्, ७.१.३

२. सोऽहं भगवः शोचामि तं मां भगवञ्छोकस्य पारं तारयत्विति।

—वही, ७.१.३

३. यजुर्वेद, ३६.१८।

४. सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति।

अथर्ववेद, १२.१.१

५. ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत।

ऋग्वेद, १०.१९०.१

६. विद्ययामृतमश्नुते

ईशोपनिषद्, ११

को और क्या जान लेना शेष रह गया था जिसके लिये उसे यह कहना पढ़ा कि वेद और वेदांग पढ़ लेने पर भी दुख से मेरा छुटकारा नहीं हो सका। लगता है कि नारद ने ये उपर्युक्त वाक्य तो पढ़े ही होंगे और उसके साथ इतना बड़ा कर्मकाण्ड का आडम्बर था कि उनका ध्यान शायद इस तरफ नहीं गया और फिर इस तरफ तो ध्यान जाने की बात ही क्या थी कि जब स्वयं वेद ने कहा कि परम व्योम में एक ऐसी शक्ति है जिसे जो नहीं मानता, वह भला ऋचाओं को पढ़कर क्या कर सकेगा।[1] सनत्कुमार ने कर्मकाण्ड के पचड़े से निकाल कर वेद के इन्हीं शाश्वत सत्यों को उपनिषद् में नारद के सामने विस्तारपूर्वक रखा। आत्मस्वरूप का खूब विस्तृत वर्णन उपनिषदों में हुआ, ब्रह्म के स्वरूप की भी खूब चर्चा हुई। पर इस चर्चा के बीच कुछ सीधे सादे सत्य, जो जीवन के लिये अनिवार्य थे, शायद खो गये। वह सन्देश था, मैत्री का सन्देश, मानव-सेवा का सन्देश, समता का सन्देश, अहिंसा का सन्देश। महात्मा बुद्ध के सामने वेद भी थे, उपनिषद् भी थे, और उनमें ये सब सन्देश भी थे किन्तु वेदों के कर्मकाण्डपरक व्याख्यानों ने और उपनिषद्कारों की बाल की खाल निकालने वाली तत्त्वचर्चा के बीच ये सीधे-सादे सत्य खो गये। महात्मा बुद्ध ने देखा कि कर्मकाण्ड तो है, तत्त्व ज्ञान तो है, पर दुख, जरा, विनाश, रोग, और शोक व्यक्ति को नहीं छोड़ रहे।[2] महात्मा बुद्ध को ऐसा लगा कि सब ज्ञान के और इस सब चर्चा के बावजूद संसार में दुख है तो इस दुख का कोई कारण भी होना चाहिए और उस कारण का निवारण भी होना चाहिए।[3] केवल ऐसा कह देने से तो गुज़ारा नहीं चलेगा कि संसार में दुख है, तो है ही, क्या किया जा सकता है ? व्यक्ति को आत्मावलम्बी बनना होगा, जागरूक होना होगा और इस दुख की जड़ पर चोट करनी होगी।

महात्मा बुद्ध के बाद यह दुख की सत्ता की अनुभूति तीव्र से तीव्रतर होती चली गई। वस्तुस्थिति यह है कि महावीर और महात्मा बुद्ध के बाद भारतीय चिन्तन एक नई दिशा में मोड़ लेता है। दर्शन के क्षेत्र में मौलिकता एक प्रकाश से समाप्त हो जाती है और इसलिए स्वतः प्रमाण रचनाओं का काल भी समाप्त हो जाता है। इसके बाद की जितनी रचनाएँ हैं, वे चाहे हिन्दू धर्म की हों, चाहे बौद्ध या जैन धर्म की, परतः प्रमाण हैं अर्थात् उनकी

१. ऋग्वेद. १.१६४.३९
२. अङ्गुत्तरनिकाय, लन्दन, १९५१, ३.६२.१०
३. वही, ३.६१.१.१-१३

प्रामाणिकता तभी तक है जब तक कि वे मूल वाक्यों से अर्थात् श्रुति वाक्यों से या महात्मा बुद्ध के वचनों से या महावीर के वचनों से मेल खायें। अतः जिन तथ्यों को अब तक के वाङ्मय में उद्घाटित कर दिया गया, इसके बाद के साहित्य में उन्हीं तथ्यों का विवेचन, वर्गीकरण और विश्लेषण होने लगा। इस प्रकार नियमित दर्शनों की नींव पड़ गई। इनमें वे दर्शन जो किसी न किसी रूप में वेदों की प्रामाणिकता को मानते थे, छः आस्तिक दर्शन कहलाये और जो वेदों की प्रामाणिकता को नहीं मानते थे, वे नास्तिक दर्शन कहलाए। किन्तु इन दर्शनों को नास्तिक या आस्तिक न कहकर वेदमूलक और अवेदमूलक कहना अधिक उपयुक्त होगा। छः दर्शन—सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, पूर्व मीमांसा और उत्तरमीमांसा—वैदिक दर्शन हैं और अवैदिक दर्शनों में चार्वाक, जैन और बौद्ध आते हैं। इन वैदिक अवैदिक सभी दर्शनों में से चार्वाक पृथक् जा पड़ता है और पूर्वमीमांसा की भी एक अलग दृष्टि है। शेष सात दर्शन एक कोटि के अन्तर्गत आते हैं। चार्वाक दर्शन ने सभी दर्शनों के समान दुख को हेय और सुख को उपादेय तो माना, पर उनका सुख और दुख का रूप कुछ और ही है। यदि सत्य कहें तो सामान्यतः मनुष्य जिसे दुख और सुख मानते हैं, उस लोकप्रिय अर्थ में सुख और दुख का प्रयोग चार्वाकों ने ही किया।

किन्तु चार्वाकों की स्थिति स्पष्ट है। वे सुखों के साधनों को ही सुख मानते हैं। और ये विचार कि किसी उत्कृष्ट सुख की प्राप्ति के लिए सुखों को छोड़ देना चाहिए, उन्हें समझ में नहीं आता। यदि संसार के विषय भोगों के साथ-साथ हमें कुछ दुख भी भोगने पड़ें, तो यह कहना ठीक नहीं होगा कि हमें वे सुख उस दुख के भय से सर्वथा छोड़ देने चाहिएँ। क्या कोई अत्यन्त उत्तम धान्य को इसलिए छोड़ देता है कि उन पर भूसी का छिलका चढ़ा हुआ है।[1] अतः विषय सुखों को छोड़ने की चर्चा चार्वाक दर्शन के लिए हास्यास्पद है। जिन-जिन कारणों से अन्य दर्शन विषयभोगों को छोड़ने का उपदेश देते हैं, उन-उन सब कारणों का भी चार्वाक निषेध करता है। बहुत

१. त्याज्यं सुखं विषयसङ्गमजन्मपुंसां
दुःखोपसृष्टमिति मूर्खविचारणैषा।
व्रीहीञ्जिहासति सितोत्तमतण्डुलाढ्यान्
को नाम भोस्तुषकणोपहितान् हितार्थी॥

सर्वदर्शनसंग्रह, पृ. ४

से शास्त्र परलोक के प्रलोभन देकर इहलोक के विषय भोगों को छोड़ने की बात कहते हैं, बहुत से दर्शन, शास्त्रों को ही प्रमाण मानकर उनके वाक्य उद्धृत करते हैं, जिनमें यह कहा गया है कि विषयभोग छोड़ देने चाहिएँ। और कुछ दर्शन परमात्मा का भय दिखाकर विषयभोगों को छोड़ने का उपदेश देते हैं। किन्तु चार्वाक ने इन सबका खण्डन कर दिया। उसने न परलोक को माना, न शास्त्रों को माना, और न ईश्वर को। वे शुद्ध प्रत्यक्षवादी हैं, उतने मात्र को ही सत्य मानते हैं जितना प्रत्यक्ष दिखाई देता है। किन्तु हम जानते हैं कि प्रत्यक्ष द्वारा सत्य का एक अंश ही जाना जा सकता है। शरीर के रोगों का यदि प्रत्यक्ष के आधार पर उपचार करने चलें तो कोई भी चिकित्सक इस बात की साक्षी दे सकता है कि हमारे उपचार अधूरे और उपहासात्मक होंगे। यदि हम मन का विश्लेषण केवल प्रत्यक्ष मन अर्थात् चेतन मन को सामने रखकर करें तो घोर नास्तिक मनोवैज्ञानिक भी इस बात से सहमत होगा, कि हम केवल मन के बहुत थोड़े भाग को लगभग १/१० भाग को ही जान पाएँगे। हमारे मन का बहुत बड़ा अंश अर्द्धचेतन और अचेतन है जिसे हम प्रत्यक्ष द्वारा नहीं जान पाते। जिस प्रकार बर्फ का एक टुकड़ा यदि पानी में डाल दिया जाय, तो उसका थोड़ा सा भाग ही पानी से बाहर होता है, शेष भाग पानी के अन्दर छिपा रहता है, ऐसी ही अवस्था हमारे मन की है। यदि चिकित्सक शरीर के सम्बन्ध में केवल प्रत्यक्ष को प्रमाण मानकर नहीं चल सकता और यदि मनोवैज्ञानिक मन के सम्बन्ध में मन के प्रत्यक्ष भाग को सत्य मानने पर धोखा खाता है तो यदि दार्शनिक जीवन में केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मान ले, तो उसकी क्या गति होगी, यह स्पष्ट है। क्योंकि हमारे शरीर का जितना भाग अप्रत्यक्ष है, उससे कहीं अधिक अप्रत्यक्ष हमारे मन का भाग है और हमारे मन का जितना भाग है अप्रत्यक्ष है, हमारे जीवन का तो उससे भी कहीं अधिक भाग अप्रत्यक्ष है। गीता में कहा है कि हमारा जीवन केवल मध्य में ही व्यक्त है। उसका आदि और अन्त अव्यक्त है।[१] जिस प्रकार मानव जाति का प्रारम्भ और अन्त अज्ञात है, जीवन का अन्त भी और प्रारम्भ भी उसी प्रकार अज्ञात है, परोक्ष है।

किन्तु चार्वाक दर्शन ने भी हमें एक दृष्टि दी। उसने हर मान्यता को तर्क

१. अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत !
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥

—गीता २.२८

की कसौटी पर कसना चाहा और इस प्रयत्न में यद्यपि वह जीवन के बहुत से आवश्यक तत्त्वों की उपेक्षा कर गया, किन्तु इसके साथ-ही-साथ जीवन के बहुत से अनावश्यक तत्त्व जो व्यर्थ के चिन्तन से उत्पन्न हो गये थे, उसके द्वारा दूर कर दिये गये। यद्यपि यज्ञों में प्रचलित पशुहिंसा की निंदा बौद्ध और जैनों ने की, किन्तु ऐसा लगता है कि इसका सूत्रपात चार्वाक लोगों ने ही कर दिया था क्योंकि यज्ञ में मारा गया पशु परलोक में स्वर्ग की प्राप्ति करता है, इस मत का खण्डन यह कहकर कि यदि ऐसा है, तो तुम अपने पिता को यज्ञ में मार कर स्वर्ग क्यों नहीं भेज देते[1] चार्वाकों की ही मौलिक उद्भावना लगती है और यह तर्क चार्वाकों के द्वारा कहे जाने पर अधिक बलवान् प्रतीत इसलिये भी होता है कि इस तर्क का जो आधार है, शास्त्र वचन या परलोक, चार्वाक दोनों को ही नहीं मानता, जबकि जैन या बौद्ध उन दोनों को ही मानते हैं। चार्वाक दर्शन एक बहुत बड़ी शिक्षा हमें दे सकता है और वह शिक्षा है कि हम वर्तमान में जीयें, भूत और भविष्य की व्यर्थ कल्पनाओं में वर्तमान को बिगाड़ना बुद्धिमत्ता नहीं है। भूतकाल ने जो कुछ हमें देना था, वह हमें वर्तमान के रूप में दे दिया और भूतकाल स्वयं समाप्त हो गया। अब हम उसे दुबारा से नहीं जी सकते। भविष्य अभी अनागत है और भविष्य ने जो कुछ बनना है, वह वर्तमान में ही बनना है। आज का वर्तमान बीते हुए कल में भूतकाल बन जाएगा और आने वाले कल में रहने वाला भविष्यकाल भी कभी वर्तमान बन जाने वाला है। वस्तुतः यदि हम अपने जीवन पर ध्यान दें तो हमारे सारे दुख वास्तविक नहीं हैं। वे भूत और भविष्य की चिन्ता से प्रारम्भ होते हैं और हमारी उन भूत और भविष्य सम्बन्धी चिन्ताओं में से अधिकतर चिन्ता निराधार होती हैं, काल्पनिक होती हैं। भूतकाल सम्बन्धी समस्त चिन्ताएं और विचार तो वैसे ही गत हो चुके हैं। उनकी सत्ता समाप्त हो चुकी है। भविष्य के सम्बन्ध में भी जो अनागत चिन्ताएं हैं, उनमें भी बहुत सारी कभी वास्तविक रूप धारण नहीं करेंगी। इस प्रकार चार्वाक दर्शन ने भूतकाल और परलोक की चिन्ताओं में जो हम अपने वर्तमान की उपेक्षा कर रहे थे, उसकी ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया और जीवन-दर्शन को प्रत्यक्ष पर आधारित करके उसे एक प्रयोगात्मक विज्ञान का रूप

१. पशुश्चेन्निहतः स्वर्गं ज्योतिष्टोमे गमिष्यति।
स्वपिता यजमानेन तत्र कस्मान्न हिंस्यते।

—सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० १३

दिया जहां हर सत्य को तर्क और अनुभव की कसौटी पर कसा जाना है ।

हम भूत और भविष्य की चिन्ताओं से मुक्त रहें, इसका अर्थ यह नहीं है कि हम भूत और भविष्य को सर्वथा मिथ्या ही मान लें, उनकी सत्ता ही न मानें। मनुष्य जो कुछ है, वह अपने भूतकाल के कर्मों का परिणाम है। और मनुष्य जो कर्म वर्तमान में करता है, वे कर्म वर्तमान में ही विलीन नहीं हो जाते, अपनी छाप भविष्य के लिये भी छोड़ जाते हैं। यदि ऐसा न हो तो कार्यकारण की वैज्ञानिक परम्परा ही टूट जाएगी, और हमारी यह आस्था भी कि अच्छे कर्म का अच्छा और बुरे कर्म का बुरा फल अवश्य प्राप्त होता है, टूट जाएगी। पूर्वमीमांसा वैदिक दर्शनों में शायद सबसे पुराना दर्शन है जो मरण के उपरान्त भी जीव की सत्ता को स्वीकार करता है। किन्तु पूर्वमीमांसा वर्तमान जीवन की उपेक्षा नहीं करता। वह परलोक को मानता है पर इहलोक को असत्य नहीं मानता। वह इस लोक के सुख भोगों को भी असत्य नहीं मानता। पूर्वमीमांसा में वस्तुतः यह विवेक कि सुख के साधन और सुख में मौलिक भेद है, उत्पन्न नहीं हुआ था। परलोक में भी प्राप्त होने वाले सुख वस्तुतः इस लोक में प्राप्त होने वाले सुखों का ही एक उत्कृष्ट रूप हैं। परिणाम और तारतम्य की दृष्टि से परलोक के सुख इस लोक में सुख की अपेक्षा बहुत अधिक हैं। किन्तु वे सुख जाति की दृष्टि से इस लोक के सुखों से भिन्न नहीं हैं। मीमांसा-दर्शन ने हमें स्वर्ग की कल्पना दी जिस स्वर्ग में हमारी वे इच्छाएं जो इस लोक में अतृप्त रह जाती हैं, तृप्त होती हैं। स्वर्ग में समस्त सुखों के साधन हैं, कल्पवृक्ष हैं, अप्सराएं हैं, विमान हैं, और जिन सुखों की भी हम कल्पना कर सकते हैं, वे समस्त सुख स्वर्ग में हैं, और समस्त धर्मोपदेश का लक्ष्य स्वर्ग से बढ़कर कुछ नहीं है। पूर्वमीमांसा के द्वारा जो यह सुख का स्वरूप दिया गया, वह उसकी अपनी मौलिक देन है और भारत में चार्वाक के अतिरिक्त सभी दर्शनों ने उसे अपनी-अपनी पद्धति में एक महत्त्वपूर्ण स्थान दिया।

किन्तु क्या स्वर्ग जीवन का अन्तिम लक्ष्य हो सकता है ? क्या भोग और विलास के साधन हमें पूर्णतः तृप्त कर सकते हैं ? क्या विषय सुख सर्वथा दुखरहित हो सकते हैं चाहे वे विषय सुख स्वर्ग के ही क्यों न हों ? सम्भवतः सर्वप्रथम यह जिज्ञासा सांख्यदर्शन के साहित्य में हुई। सांख्यदर्शन ने यह अनुभव किया कि हमारे प्रत्येक अनुभव में न्यून या अधिक मात्रा में प्रकृति के तीनों तत्त्व—सत्त्व रजस् और तमस् मिले रहते हैं। समस्त सुखभोग रजोगुणी प्रवृत्ति

के परिणाम हैं। तब यह कैसे सम्भव हो सकता है कि वे दुख से रहित हों।[1] इस पारिभाषिक शब्दजाल से निकलकर अगर हम इस तथ्य को समझने का प्रयत्न करें, तो हम कह सकते हैं कि प्रत्येक अनुभूति में एक अतृप्ति का भाव अवश्य बना रहता है; कुछ और प्राप्त हो जाए, यह भाव अवश्य बना रहता है; कृतकृत्यता का भाव नहीं आता। अतः इस सुख को पूर्ण सुख नहीं कहा जा सकता। हमारे समस्त दुख सांख्यदर्शन के अनुसार तीन भागों में वर्गीकृत हो सकते हैं—१. आध्यात्मिक, अर्थात् वे दुख जो मनुष्य के अपने देह या मन से उत्पन्न होते हैं, २. आधिभौतिक अर्थात् वे दुख जो मनुष्य के अपने व्यक्तित्व से उत्पन्न न होकर पशु-पक्षी या अन्य प्राणियों द्वारा उत्पन्न होते हैं, ३. आधिदैविक अर्थात् वे दुख जो अतिवृष्टि, अनावृष्टि जैसे प्राकृतिक कारणों से उत्पन्न होते हैं।[2] यह ठीक है कि इन दुखों को दूर करने के लौकिक उपाय हैं और उन उपायों को हर व्यक्ति अपनी सहज बुद्धि से जानता है और इसके लिये किसी धर्म-दर्शन की चर्चा आवश्यक नहीं है। किन्तु वे सर्वजनप्रसिद्ध लौकिक उपाय इन दुखों को सर्वथा दूर नहीं कर सकते। प्रथम तो यह निश्चित नहीं है, कि लौकिक उपायों से कोई दुख अवश्य दूर हो ही जाये। उदाहरणतः औषधि रोग को दूर कर भी सकती है, पर शायद न भी करे। दूसरे लौकिक उपायों से जो दुख का निवारण है, वह स्थायी नहीं है, अस्थायी है।[3] सांख्यदर्शन ने जो कुछ हमने चार्वाक या पूर्वमीमांसा से सीखा था, उसकी अपेक्षा एक सोपान आगे बढ़कर यह तथ्य स्पष्ट किया कि चार्वाक जिन इहलौकिक सुखों का और पूर्वमीमांसा जिन पारलौकिक सुखों का गान करती है, वे सुख शुद्धतः सुख नहीं हैं।

सांख्यदर्शन का यह कथन यदि हम अपने जीवन में घटाकर देखें तो हमें लगेगा कि हमारे जीवन में दुख की एक अज्ञात छाया हमारा सर्वदा अनुकरण कर रही है। यद्यपि चाहे हमारे सुख-साधन दिन-प्रतिदिन बढ़ते ही क्यों न चले

१. तदेतत्प्रत्यात्मवेदनीयं दुःखं रजःपरिणामभेदो न शक्यते प्रत्याख्यातुम्।

वाचस्पतिमिश्र, सांख्यकारिका, १.

२. वही, सांख्यकारिका, १.

३. दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ।
दृष्टे साऽपार्था चेन्नैकान्तात्यन्ततोऽभावात्॥

सांख्यकारिका, १.

जाएँ, किन्तु ज्यों-ज्यों हम अपने जीवन में अग्रसर होते हैं, हमें यह लगता है कि दुख की मात्रा बढ़ती चली जा रही है, एक निराशा छाती चली जाती है। ज्यों-ज्यों हमारा शरीर जीर्ण होता है, हमारा मन भी गिरता चला जाता है। हां केवल एक आशा जीर्ण नहीं होती। यह जीवन का एक यथार्थ चित्र है। यह ठीक है कि जीवन के बहुत से ऐसे नशे हैं—धन का नशा, रूप का नशा, या विद्या का भी नशा—जिनकी मस्ती में हमें दुख भूला रहता है पर इससे दुख की सत्ता नहीं समाप्त हो जाती।

सांख्यदर्शन ने जिस दुख की अनिवार्य सत्ता की ओर हमारा ध्यान दिलाया, योगदर्शन ने उसका और भी अधिक गम्भीर विश्लेषण किया, विवेचन किया, और यह पाया कि संसार में वस्तुतः सुख कहीं है ही नहीं, वस्तुतः दुख ही दुख है। योगदर्शन ने इसके बहुत से कारण दिये,[1] प्रथम कारण तो स्पष्ट है कि समस्त सांसारिक सुख अस्थाई हैं, क्षणभंगुर हैं, उनके सम्बन्ध में हम कभी भी निश्चित होकर नहीं बैठ सकते कि वे प्राप्त होने के बाद छिन नहीं जाएंगे। दूसरे यह अस्थायी सुख भी सरलता से प्राप्त नहीं होते, इनके लिए एक कठोर संघर्ष करना पड़ता है, महान् कष्ट सहने पड़ते हैं। तीसरे संसार के समस्त सुख भोग हमारी स्वतन्त्रता का अपहरण कर लेते हैं; हम उन पर निर्भर होने लगते हैं और हमारी आत्मनिर्भरता समाप्त हो जाती है। चौथे सांसारिक सुख हमारी इच्छाओं को पूर्ण नहीं कर पाते प्रत्युत बढ़ाते ही हैं। जिसके पास सौ रुपया है वह हजार, जिसके पास हजार है वह लाख, और लखपति करोड़ और करोड़पति सम्राट् और सम्राट् इन्द्र और इन्द्र ब्रह्मा का पद पाने के लिये निरन्तर व्याकुल है। कहीं भी कृतकृत्यता नहीं है, सर्वत्र एक बेचैनी है। पांचवें जब हम सांसारिक पदार्थों के पीछे भागते हैं तो यह नहीं समझना चाहिए कि उन सांसारिक पदार्थों के पीछे भागने वाले हम अकेले हैं। संसार के सभी प्राणी उन्हीं पदार्थों के पीछे भाग रहे हैं। और यह स्वाभाविक है कि जब बहुत सारे प्राणियों को एक ही वस्तु प्राप्त करनी होगी तो उनमें परस्पर स्पर्द्धा का भाव आएगा, ईर्ष्या उत्पन्न होगी, संघर्ष और कलह बढ़ेगा। छठा कारण और अन्तिम कारण जो योगसूत्र में सुखों के प्रति वितृष्णा का दिया गया है वह यह है कि संसार के समस्त सुखभोगों को भोगने का साधन इन्द्रियां हैं। परन्तु इन सुखभोगों का भोग ही इन्द्रियों को

१. परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः।
—योगसूत्र, गोरखपुर, वि० सं० २०१३, २.१५.

जीर्ण और शिथिल कर देता है। और एक ऐसी अवस्था आ जाती है कि हमारी इन्द्रियां तो जवाब दे देती हैं, पर हमारी भोगों की इच्छा नित्य नवीन बनी रहती है। और ऐसी अवस्था में समस्त संसार के सुख हमारे लिये दुख रूप ही बन जाते हैं। योगसूत्र का यह विस्तृत और सूक्ष्म विवेचन ध्यान देने योग्य है। सब दर्शनों ने सम्भवतः सर्वप्रथम योगदर्शन ने संसार के सुखभोगों का एक तात्त्विक विश्लेषण किया। संसार के सुखभोगों का एक अपना आकर्षण है और बहुत बड़ा आकर्षण है अन्यथा सभी शास्त्र और गुरुओं के बारम्बार निषेध करने पर भी प्राणी उनकी ओर आकृष्ट क्यों होता। किन्तु यदि सूक्ष्म विश्लेषण करें तो यह लगेगा कि यह सुखभोग अपने आप में बहुत अधूरे हैं। यह ठीक है कि इन सुखभोगों का अपना आकर्षण है, किन्तु वह आकर्षण तत्त्वतः एक निषेधात्मक आकर्षण है। इन सुखभोगों की मादकता में हमें इसके अतिरिक्त और कुछ प्राप्त नहीं होता कि हम क्षण भर के लिए अपने दुखों को भूल जाते हैं। किन्तु वे दुख उस मादकता के हटने पर फिर उसी प्रकार उभर आते हैं और जिस तरह खाज को खुजाने से खाज नहीं मिटती, क्षणिक शान्ति अवश्य मिलती है, किन्तु वह खाज बढ़ती चली जाती है इसी प्रकार सुखभोगों में जहां एक ओर हमारे दुखों को थोड़ी देर के लिये भुला देने की शक्ति है वहां दूसरी ओर हमारी इच्छाओं को बढ़ा देने की भी शक्ति है। कविकुलगुरु कालिदास के शब्दों में कहें तो सुखों की प्राप्ति केवल हमारी उत्सुकता को समाप्त कर देती है, सुख नहीं देती। एक भारी छत्र यदि धूप में लेकर स्वयं ही जाना पड़े तो, वह छत्र हमारे परिश्रम को इतनी मात्रा में दूर नहीं करता जितनी मात्रा में बढ़ा देता है।[1] अतः योगसूत्र ने संसार के समस्त सुखों को भी दुख की ही संज्ञा दी और हमें अनागत दुख को निवारण करने की प्रेरणा भी दी।[2]

इतना कुछ समझ चुकने के बाद भी हम जो सांसारिक सुखों के जाल में फंसे चले जाते हैं, उसका कारण हमारा अज्ञान ही है। इस ओर सर्वप्रथम हमारा ध्यान न्याय दर्शन ने आकृष्ट किया। उन्होंने दुख की जड़ में मिथ्या

१. औत्सुक्यमात्रमवसाययति प्रतिष्ठा
क्लिश्नाति लब्धपरिपालनवृत्तिरेव।
नातिश्रमापनयनाय यथा श्रमाय
राज्यं स्वहस्तधृतदण्डमिवातपत्रम्॥
—अभिज्ञानशाकुन्तल, ५.६.

२. हेयं दुःखमनागतम्, योगसूत्र, २.१६.

ज्ञान को कारण माना।[1] हमारे अज्ञान के कारण हमसे दोष होते हैं, वे दोष हमें निरर्थक कर्मों में प्रवृत्त करते हैं। वह हमारी प्रवृत्ति, हमारे जन्म का कारण है। और हमारा जन्म हमारे दुख का कारण है। इस योगदर्शन और न्यायदर्शन के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इनके समय तक भारतीय दर्शन एक नया मोड़ ले चुका था और यह कहना अनुचित नहीं होगा कि इस प्रकार की दृष्टि ने हमारे जनजीवन में निराशावाद को स्थान दिया। जो दर्शन और धर्म दुख का नाश करने के लिए और सुख की प्राप्ति के लिये उत्पन्न हुआ था, वह जैसे दुख का उपासक बन बैठा। भागवत में कुन्ती ने कृष्ण के प्रति जो ये वचन कहे वे भारतीय जनमानस के अच्छे परिचायक हैं कि हे जगत् गुरु हमें निरन्तर विपदा का सामना करना पड़े क्योंकि विपत्ति में आपका स्मरण होता है जिससे कि पुनर्जन्म की जड़ कट जाती है।[2] कबीर ने स्पष्ट कहा :

सुख के माथे सिल परे नाम हृदय से जाय।
बलिहारी दुख आपनो पल पल नाम रटाय॥

स्पष्ट है कि ये सब भावनाएँ भारतीय जन-मानस को निराशावाद की दिशा में धकेलती रहीं और बहुत कुछ अब भी धकेलती हैं। हम कह चुके हैं कि निराशावाद मनुष्य के जीवन का सबसे बड़ा शत्रु है। जहाँ आशा का प्रकाश नहीं है, वहाँ समस्त सूझ-बूझ समाप्त हो जाती है; वहाँ दर्शन और धर्म की तो बात ही क्या, साधारण लौकिक कार्य भी करने असंभव हो जाते हैं।

किन्तु यदि हम सांख्य, योग और न्याय की दृष्टि को थोड़ा अधिक गम्भीरता से सोचें और उसमें से निराशावाद के विकार को निकाल दें तो हम यह देखेंगे कि ये दर्शन एक ऐसे सुख की खोज में पागल हैं जो सुख मनुष्य को पूर्ण कर दे, कृतकृत्य कर दे, उसके जीवन को एक अनुपम उल्लास से भर दे। किन्तु इस पर भी यह मानना होगा कि एक ऐसा समय अवश्य आया जब इन दर्शनों का उद्देश्य केवल निषेध रूप रह गया अर्थात् दुख की निवृत्ति। और इन दर्शनों ने यह स्वीकार करने से इन्कार कर दिया कि वे किसी ऐसी अवस्था की खोज में हैं जहाँ आनन्द होता है। किन्तु यह मानना पड़ेगा कि ये सभी दर्शन वेदमूलक हैं, उपनिषद् को प्रमाण मानते हैं और उपनिषद् में जब ब्रह्म की चर्चा

१. दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः
न्यायसूत्र, पूना, १९३९,१.१.२.

२. श्रीमद्भागवत १.८.२५.

की है, तो आनन्द और रस जैसे शब्दों का प्रयोग इतनी बार किया है कि चाहे ये दर्शन हमें कितना भी विश्वास क्यों न दिलाना चाहें हम यह नहीं मान सकते कि उपनिषदों में जिस मुक्त अवस्था का वर्णन है, वह केवल दुख से रहित अवस्था है और उसमें सुख नहीं है।[1] बौद्ध दर्शन के सम्बन्ध में भी यही कहा जाता है कि महात्मा बुद्ध निर्वाण को एक ऐसी चीज़ मानते थे जैसे दीपक की ज्योति बुझने पर समाप्त हो जाती है।[2] किन्तु पिटकों में ऐसे वाक्य आते हैं जिनमें यह स्पष्ट कहा गया है कि निर्वाण परम सुख है।[3]

उपनिषद् और गीता के सबसे अधिक प्रतिनिधित्व करने वाले वेदान्त दर्शन ने केवल दुख की निवृत्ति को कोई महत्त्व नहीं दिया। वस्तुतः उसने दुख की सत्ता ही स्वीकार नहीं की। न्यायदर्शन ने जब यह कहा था कि दुख का मूल कारण अज्ञान है, तो इसमें ही वेदान्त की इस मान्यता के बीज छिपे हुए हैं कि दुख असत्य है, एक भ्रममात्र है, क्योंकि अज्ञान सत्य नहीं होता, वह एक भ्रममात्र होता है। वेदान्त दर्शन ने बड़ी ऊहापोह पूर्वक समस्त दर्शनों का खण्डन करके यह निर्विवाद रूप से सिद्ध कर दिया, कि मुक्ति की अवस्था एक आनन्द की अवस्था है। इस मुक्ति के आनन्द की अवस्था को उपनिषदों में और अनेक शास्त्रों में वहुत ही काव्यात्मक ढंग से कहने का प्रयास किया गया है।[4] किन्तु परिणाम यही निकला है कि यह गूँगे का गुड़ है, जिसका रस लिया तो जा सकता है पर बतलाया नहीं जा सकता। इस प्रकार वेदान्तदर्शन में आकर समस्त वैदिक दर्शनों की एक परिणति हो जाती है और वह परिणति यह है कि दुख असत्य है, हमारा स्वरूप आनन्दरूप है। जिस क्षण हम अपने स्वरूप का साक्षात्कार करें उस ही क्षण आनन्द हमें यहीं और अभी उपलब्ध हो सकता है। वह आनन्द आप्य नहीं है, संस्कार्य नहीं है, और विकार्य या उत्पाद्य भी नहीं है।[5] अर्थात् जिस प्रकार कोई पदार्थ दूरी पर स्थित होता है, और

१. नानन्दाभिव्यक्तिर्मुक्तिर्निर्धर्मत्वात्

—सांख्यसूत्र ५.७४.

२. नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्

—सौन्दरनन्द १६.२८-२९.

३. निब्बानं परमानि सुखानि

—Pali-English Dictionary, पृ० ३६४.

४. बृहदारण्यकोपनिषद्, २.४.१२.

५. नैष्कर्म्यसिद्धि, पूना, १९२५, १.५३.

हमें उसे प्राप्त करने के लिये उसके निकट जाना होता है, इस प्रकार आनन्द हमसे दूर कहीं नहीं है जहाँ हमें उसे पाने के लिये जाना हो। वह संस्कार्य भी नहीं है, अर्थात् ऐसा भी नहीं है कि हमें किसी पदार्थ को परिष्कृत करके आनन्द प्राप्त करना है। किसी पदार्थ को विकृत करके प्राप्त करने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। आनन्द उत्पाद्य भी नहीं है कि जिस प्रकार गेहूँ के बीज से गेहूँ के दाने उत्पन्न किये जाते हैं, उसे उत्पन्न किया जा सके। वह हमारा अपना निजी शाश्वत स्वभाव है, अपना सहज रूप है। उसकी प्राप्ति में यदि कोई बाधा है, तो वह अज्ञान की है। वेदान्त ने उपनिषदों की परम्परा में ज्ञान पर अधिक बल दिया यद्यपि उपनिषदों में ऐसे वाक्यों की कमी नहीं थी जिनमें कर्मों की महत्ता का बलपूर्वक प्रतिपादन है। ईशोपनिषद् ने स्पष्ट कहा है कि व्यक्ति को कर्म करते हुए ही जीवित रहने की इच्छा करनी चाहिए।[१] लोकमान्य तिलक ने अपने भाष्य में यह पूर्णतः सिद्ध कर दिया कि गीता भी कर्म योग की ही शिक्षा देती है। किन्तु शंकराचार्य ने अपने उद्भट विद्वत्ता के बल पर समस्त वेदान्त का चाहे वह उपनिषद् हो या गीता, या ब्रह्मसूत्र, ज्ञान परक ही अर्थ लगाया। उन्होंने एक ऐसे दार्शनिक ढाँचे का निर्माण कर लिया था जिसके अनुसार संसार में बन्धन का केवल एक ही कारण रह जाता था और वह था अज्ञान। अतः मुक्ति का भी एक ही साधन था ज्ञान। इसके लिए उन्हें उपनिषदों में और गीता में ज्ञान के पोषक वाक्य भी मिल गए।

इस कड़ी में हम एक और विशेष परम्परा की ओर ध्यान दिलाना चाहते हैं और वह परम्परा है वैशेषिकों की। वैशेषिक सूत्र में धर्म का साधन केवल पारलौकिक सुख या मोक्ष ही नहीं माना गया, इहलौकिक सुख को भी धर्म के साध्यों में से माना।[२] इस प्रकार महाभारत की उस परम्परा का जिसमें धर्म को अर्थ और काम का साधन बतलाया गया है,[३] वैशेषिक सूत्र ने उस परम्परा से समन्वय कर दिया जो परम्परा धर्म का उद्देश्य केवल मोक्ष मानती थी। किन्तु भारतीय इतिहास पर यदि दृष्टि डालें तो ऐसा लगता है कि इस समन्वित

१. ईशोपनिषद्, २.

२. यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः
—वैशेषिकसूत्र, इलाहाबाद, १९२३, १.१.२.

३. धर्मादर्थश्च कामश्च
—महाभारत, १८.५.६२.

दृष्टि का बहुत अधिक आदर नहीं हुआ। निवृत्तिपरक धर्मों ने अर्थ और काम की भरपेट निन्दा की और कुछ ऐसे सम्प्रदाय भी चलते रहे, जैसे वाम मार्ग, जो अर्थ और काम को धर्म का विरोधी नहीं, प्रत्युत सहायक मानते रहे और इन दोनों मार्गों ने अपने-अपने क्षेत्र में अति कर दी। जो धर्म का उद्देश्य केवल मोक्ष मानते थे अर्थ और काम की अवहेलना करते थे, उन्हें तो कठोपनिषद् के इन वाक्यों में अपने मत की पुष्टि का समर्थन मिला कि श्रेय और प्रेय एक दूसरे के विपरीत हैं, दोनों का विपरीत फल है और दोनों का समन्वय नहीं हो सकता।[1] वाममार्गी लोगों ने श्रुति को प्रमाण न मानकर तन्त्रों को प्रमाण माना और तन्त्रों में इस प्रकार के वाक्य खोज निकाले, जिनमें अर्थ और काम को ही मोक्ष का साधन माना था।

ये दोनों परम्पराएँ एक दूसरे की विपरीत दिशा में बहती रहीं और दोनों का रूप अत्यन्त विकृत हो गया। निवृत्तिमार्गी संसार की इतनी अधिक उपेक्षा कर बैठे कि उनकी स्थिति समझदार लोगों की दृष्टि में उपहासास्पद बन गई और वाममार्गी साधारण सदाचार का इतनी सीमा तक उल्लंघन कर गए कि समाज ने उनका बहिष्कार कर दिया। सबसे बड़ी बात यह थी कि न तो आत्यन्तिक निवृत्ति मार्ग समाज के लिए कुछ देता था क्योंकि उसमें समाज का कोई स्थान ही नहीं था और वाममार्ग समाज के नियमों के स्पष्टतः इतना विरुद्ध जाता था कि उसका बहिष्कार समाज ने कर दिया। इस प्रकार अभ्युदय और निश्रेयस के समन्वय का जो मार्ग वैशेषिक सूत्र में हमें उपलब्ध होता है, वह केवल एक सिद्धान्त ही बनकर रह गया, व्यवहार में नहीं उतर सका।

हमने सभी वैदिक और जैनेतर अवैदिक दर्शनों के अनुसार प्रस्तुत समस्या पर ऐतिहासिक और आलोचनात्मक पद्धति से विचार करने का प्रयत्न किया। किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि दर्शन की किसी समस्या पर ऐतिहासिक पद्धति से विचार करना कठिन होता है और विशेषकर भारतीय दर्शन में यह कठिनाई और भी बढ़ जाती है क्योंकि यहाँ आचार्यों के या ग्रन्थों के समय सर्वथा अनिश्चित हैं। किन्तु किसी दर्शन की समस्या पर यदि ऐतिहासिक पद्धति का शुद्ध रूप से अनुसरण न भी किया जाए, तो विशेष हानि नहीं होती क्योंकि सत्य सत्य है, चाहे वह किसी भी काल से सम्बद्ध क्यों न हो। इसलिए हमने जो ऊपर विवेचन किया, उसमें यह कहना कठिन है कि इन सब दृष्टिकोणों

१. श्रेयश्च प्रेयश्च विपरीतमेतौ
—कठोपनिषद्

का विकास ऐतिहासिक पद्धति से कैसे हुआ होगा किन्तु यदि वैचारिक स्तर पर विचार करें तो ऐसा लगता है कि एक विचार की प्रतिक्रिया में दूसरा विचार पैदा हो जाता है और दूसरे विचार की प्रतिक्रिया में तीसरा विचार पैदा हो जाता है और इस प्रकार विचारों की शृंखला बनती चली जाती है। किन्तु हम जानते हैं कि प्रतिक्रिया की प्रवृत्ति कभी स्वस्थ नहीं हुआ करती। उसमें सदा अति हो जाने का भय रहता है। और यदि दो प्रतिक्रियाओं के अतिरंजित मार्गों के बीच में एक समन्वित मार्ग उपस्थित किया जा सके, तो वह सत्य के निकट होगा, इसकी अधिक सम्भावना होती है। जैन चिन्तकों ने इस समन्वय की पद्धति को एक स्वतन्त्र चिन्तन का रूप दे दिया और बहुत विस्तार से समन्वित मार्ग का प्रतिपादन उन्होंने किया। सम्भवतः किसी अन्य दर्शन ने मध्यम मार्ग या समन्वित दृष्टिकोण पर इतना अधिक बल नहीं दिया जितना जैन दर्शन ने दिया। किन्तु हम यह जानते हैं कि मध्यस्थ रहना या प्रतिक्रियाओं से मुक्त रहना बहुत कठिन है और जैन दर्शन भी इन प्रतिक्रियाओं का शिकार बन गया। जैन आचार्यों ने प्रवृत्तिमूलक और निवृत्तिमूलक, श्रावक और साधु, निश्चय और व्यवहार दोनों मार्गों को साथ-साथ चलने की प्रेरणा दी थी। किन्तु जैन दर्शन का इतिहास इस बात का साक्षी है कि यह समन्वय की भावना शास्त्रों में तो लिखी रही, पर जीवन में बहुत कुछ एकांगिता आ गई।

१०

# सुखप्राप्ति : विधिपरकदृष्टि

ऊपर हमने जिन दो परम्पराओं का उल्लेख किया है उनमें एक वह परम्परा है जो धर्म का उद्देश्य केवल दुःख की निवृत्ति मानती है और दूसरी वह परम्परा है जो धर्म का उद्देश्य केवल दुख की निवृत्ति ही नहीं, प्रत्युत सुख की प्राप्ति भी मानती है। जैन दर्शन इस दूसरी परम्परा के अन्तर्गत आता है। किन्तु यहाँ यह देखने की बात है कि हमारा दृष्टिकोण निषेधात्मक है या विध्यात्मक, अर्थात् हम आनन्द की प्राप्ति को प्रधान मानते हैं या दुख की निवृत्ति को? हमारा प्रयास आनन्द की प्राप्ति के लिये है या दुख की निवृत्ति के लिए? यह ठीक है कि ये दोनों अन्योन्याश्रित हैं। किन्तु प्रश्न हमारी दृष्टि का है कि हम महत्व और प्राथमिकता किसे देते हैं और यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है क्योंकि इसका हमारे आचरण पर बहुत प्रभाव पड़ता है। कमरे में अन्धकार है किन्तु अन्धकार को दूर करने के सारे प्रयत्न व्यर्थ हैं। धकेल-धकेल कर अन्धकार को कमरे से नहीं हटाया जा सकता। आवश्यकता है इस दृष्टिकोण की कि हमें कमरे में प्रकाश लाना है न कि इस दृष्टिकोण की कि अन्धकार हटाना है। अन्धकार के हटाने के लिये कोई पृथक् प्रयत्न अपेक्षित नहीं है, केवल प्रकाश को लाने भर की देर है कि अन्धकार स्वतः दूर हो जाएगा। यह दृष्टिकोण इस बात का आधार बनता है कि हम धर्म को विधिपरक बनाते हैं या निषेधपरक। आत्मस्वरूप सुखरूप है, यदि हम उसकी ओर अपने मन को केन्द्रित करते हैं तो दुख रूप विषय भोग स्वतः हट जाते हैं। किन्तु हमने प्रश्न को गलत दिशा की ओर से हल करना शुरू किया। हमने विषयभोगों की निन्दा का स्वर इतना ऊँचा कर दिया कि विषय भोगों को छोड़ देने की बात प्रधान हो गई। धर्म का निषेधात्मक रूप बलवान् हो गया और आत्मानन्द के भोग की बात गौण पड़ गई। किन्तु यह मनुष्य के स्वभाव के सर्वथा विपरीत है। मनुष्य का स्वभाव शून्य को सहन नहीं कर सकता। और हमने विषयभोगों के त्याग का उपदेश देकर एक शून्य की स्थिति तो पैदा कर दी पर उस शून्य के स्थान को भरने के लिए

जो आत्मा का सहज उल्लास आना चाहिए था, उसकी अवहेलना हो गई और ऐसा धर्म एक आरोपित धर्म बन गया, एक बलपूर्वक थोपा जाने वाला धर्म बन गया। विषय और भोगों को हमने त्याग दिया पर उसके स्थान पर जो शून्य पैदा हुआ वह रिक्त बना रहा और उस रिक्त स्थान में कोई और नहीं आ सका, इसलिये विषयभोगों की सूक्ष्म लालसाएं उस स्थान को भरने लगीं। जिन सूक्ष्म दृष्टि लोगों ने उन सूक्ष्म विषय लालसाओं को पहचाना, उन्होंने यह जाना कि धर्म तो एक ढोंग है, दिखावा है, पाखण्ड है। एक समय था कि व्यक्ति को यह अभिमान था कि उसके पास इतनी सम्पदा है और जब उसने उस सम्पदा को तो छोड़ दिया और आत्मसम्पदा को पाया नहीं तो एक रिक्तता, एक शून्यता पैदा हो गई और उस रिक्तता को एक सम्पदा के अभिमान से भी अधिक भयंकर, त्याग के अभिमान ने भर दिया, और त्यागी विषय भोगों को छोड़कर भी त्याग के अभिमान में डूबा रहा।

यदि हम इस समस्या पर इस ढंग से विचार न करते प्रत्युत इस प्रकार विचार करते कि हमें आत्मानन्द या अपने सहज स्वभाव से प्राप्त होने वाले रस का आस्वादन करना है तो उस अनुपम अलौकिक रस की एक घूंट लेते ही विषयभोगों का सुख स्वतः हलाहल के समान कटु लगने लगता और तब हमारे लिए इस उपदेश का कोई अर्थ नहीं रह जाता कि विषयभोग छोड़ने हैं क्योंकि तब हम उन विषयभोगों को छोड़ते नहीं, वे हमसे स्वयं छूट जाते और ऐसी स्थिति में यह अहंभाव कि हमने त्याग किया, नहीं आ सकता। जहाँ तक आत्मा के सहज स्वभाव से उत्पन्न होने वाले आनन्द का प्रश्न था, उसका तो अभिमान किया ही नहीं जा सकता क्योंकि वह कोई प्राप्ति नहीं है, किन्तु पहले से ही प्राप्त पदार्थ की अभिव्यक्ति मात्र है।

ऊपर से देखें तो इन दोनों स्थितियों में कोई भेद नहीं है। दोनों स्थितियों में त्याग है, निवृत्ति है, किन्तु यदि तत्वतः परीक्षा करें, तो दोनों स्थितियों में रात-दिन का अन्तर है। पहली स्थिति केवल हमारी निषेधात्मक स्थिति की परिचायक है। उसमें हम कुछ छोड़ देते हैं किन्तु वह छोड़ना केवल छोड़ने के लिये है। किन्तु मनुष्य का स्वभाव ऐसे निषेध को स्वीकार नहीं कर सकता कि जिसमें केवल निषेध हो, कुछ उपलब्धि न हो। इसके तीन सम्भव परिणाम हो सकते हैं—पहला तो यह सम्भव परिणाम है कि हम जीवन के सुखभोगों का निषेध करते चले जाएँ और हमारा जीवन एक नीरस व्यापार बन जाए। हमारे जीवन का आनन्द स्रोत सूख जाए। इसका परिणाम है एक ऊब, एक

चिड़चिड़ापन। दूसरा यह परिणाम सम्भव हो सकता है कि हम जीवन के सुखभोगों को तो छोड़ दें किन्तु हमारा यह त्याग केवल ऊपरी हो। मन से विषयभोगों का रस नहीं जाए। और इस स्थिति में हमारा त्याग एक पाखण्ड मात्र रह जाता है। तीसरा एक यह भी विकल्प सम्भव है कि हम विषयभोगों को इस आशा में छोड़ दें कि हमें इनके त्याग के बदले में भविष्य में परलोक में या आगामी आने वाले जीवनों में इससे अनन्त गुणा सुख प्राप्त होगा और इस प्रकार हम वर्तमान में जीवित न रहकर भविष्य की कल्पनाओं में खोये रहें।

## ११

# रत्नत्रय : एक इकाई

किन्तु यह तीनों ही विकल्प अवांछनीय हैं। धर्म जीवन में एक अलौकिक सुख और सामंजस्य पैदा करने वाला होना चाहिए न कि नीरसता। और पाखण्ड तो कदापि वांछनीय है ही नहीं। हम इस प्रकार के उदाहरण जानते हैं कि बाहरी त्याग यदि आन्तरिक त्याग नहीं है तो अत्यन्त निस्सार सिद्ध होता है। कहते हैं कि शुकदेव दिगम्बर थे। वे केवल एक कमंडलु रखते थे और महाराज जनक सब सुख साधनों से सम्पन्न थे। शुकदेव को यह जिज्ञासा हुई कि जनक राजभोग के वैभवविलासों में रहते हुए भी कैसे योग साध सकते हैं। वे जनक के यहाँ पहुँचे। जनक ने उनका स्वागत किया। दरबार में जाने से पहले शुकदेव अपना कमंडलु द्वारपाल के पास छोड़ गये थे। इतनी देर में प्रासाद में आग लग गई। शुकदेव को अपने कमंडलु की चिन्ता हुई। पर महाराज जनक शान्त भाव से बैठे रहे। शुकदेव के पूछने पर जनक ने जो उत्तर दिया, वह भारतीय इतिहास की एक अनुपम घटना है। जनक बोले—मेरे पास अनन्त वैभव है किन्तु मैं अकिंचन हूँ, मेरे पास कुछ भी नहीं। यदि सारी मिथिला जलती है तो मेरा कुछ भी नहीं जलता। जनक का यह उत्तर बाह्य त्याग और आन्तरिक त्याग के अन्तर को सर्वथा स्पष्ट कर देता है।

हमने एक ऊपर तीसरा विकल्प भी दिया और वह विकल्प विशेष रूप से विचारणीय है कि हम संसार के सुखभोगों को इसलिए छोड़ दें कि हमें भविष्य में कुछ सुख प्राप्त होगा और वर्तमान में हमारा जीवन निराशामय बना रहे किन्तु हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि सजातीय पदार्थ को आकृष्ट करता है। सुख सुख को और दुख दुख को उत्पन्न करता है। जिसका वर्तमान अन्धकारमय है, दुखमय है, वह उज्ज्वल भविष्य की कामना करे, यह एक बहुत बड़ी वंचना होगी। धर्म हमें भूत और भविष्य की कल्पनाओं से छुड़ाता है, भूत की और भविष्य की कल्पनाओं को बटोरता नहीं। यदि वस्तुतः स्वभाव धर्म है तो त्रिकालवर्ती है और उसे वर्तमान में भी होना चाहिए। उसके लिए किसी भविष्य की प्रतीक्षा नहीं की जा सकती। सारे धर्मशास्त्र परलोक के सुख की इच्छा का इहलोक के सुख की इच्छा के समान ही निषेध करते हैं। किन्तु धर्मशास्त्रों में परलोक के सुखों का भी इतना आकर्षक वर्णन है कि

किसी का मन सहज ही मोह लिया जाता है। किन्तु जहाँ धर्म का पालन स्वर्ग के प्रलोभन और नरक के भय से होता है वहाँ वस्तुस्वभाव के साक्षात्कार का प्रश्न नहीं रह जाता क्योंकि भय या प्रलोभन से धर्म का आचरण एक आरोपित तत्त्व है, एक बाहर से आने वाला तत्त्व है, वस्तु के अन्तर में से प्रस्फुटित होने वाला धर्म नहीं है। किन्तु धर्म के नाम पर बहुत सारे भय और प्रलोभन गढ़ लिये गये और जो धर्म अभय को सबसे पहली शर्त मानता था, वही धर्म भय का सबसे बड़ा प्रश्रयदाता बन गया।

हमने ऊपर जनक की कथा कही और आरोपित धर्म का खण्डन भी किया। किन्तु यह बाह्य आचरण का निषेध स्वयं एक दूसरे पाखण्ड की जड़ बन गया। व्यक्ति अपने मन की निर्बलता के कारण अपने बाह्य आचरण को निर्मल नहीं रख सकता और उसके पीछे कारण यह जोड़ देता है कि बाह्य निर्मलता से या बाह्य आचरण से क्या होता है मन निर्मल होना चाहिए, 'मन चंगा तो कठौती में गंगा'। पर हम जानते हैं कि यह भी एक प्रकार की आत्मप्रवंचना है। जहाँ यह कहा जा सकता है कि यदि मन में निर्मलता नहीं है तो बाह्य की निर्मलता ढोंग है वहाँ यह भी कहा जा सकता है कि यदि हमारा मन निर्मल है तो हमारा बाह्य आचरण स्वतः निर्मल होगा क्योंकि हमारे मनोभाव ही हमारे आचरण में प्रकट होते हैं। यह तो सम्भव है कि हमारे मनोभाव कलुषित हों और हमारा बाह्य आचरण निर्मल दिखाई पड़े क्योंकि हर व्यक्ति अपने आप को बाहर से पवित्र ही दिखाना चाहता है। किन्तु यह कैसे सम्भव है कि हमारे मनोभाव तो निर्मल हों पर हमारा बाह्य आचरण तदनुकूल पवित्र न हो क्योंकि कोई भी मनुष्य मन के निर्मल होने पर बाह्य आचरण को कलुषित दिखा कर क्या प्राप्त करना चाहेगा। ऐसी स्थिति में तो यही मानना होगा कि या तो वह मन के निर्मल होने का ढोंग रच रहा है और या उसे मन के निर्मल होने का स्वयं को ही भ्रम हो गया है।

इसे ज्ञान और कर्म का समन्वय कहा जा सकता है। बिना ज्ञान के कर्म का कोई अर्थ नहीं होता, पर बिना कर्म के ज्ञान भी निरर्थक है। ज्ञान और चारित्र्य को साथ-साथ चलना चाहिए। पर धर्म का इतिहास इस बात का साक्षी है कि कुछ परम्पराएँ ज्ञान के नाम पर चरित्र की उपेक्षा करती रहीं, और कुछ परम्पराएँ बाह्य आचरण को इतना अधिक महत्व देती रहीं कि ज्ञान दृष्टि का सर्वथा अभाव हो गया और बाह्य आचरण केवल यांत्रिक क्रिया बन कर रह गई। जब-जब इस प्रकार किसी परम्परा या सम्प्रदाय में प्रवृत्ति

आई तब-तब समझदार लोगों ने इसकी तरफ समाज का ध्यान आकृष्ट किया। किन्तु ज्ञान और कर्म का विरोधाभास मिटा नहीं। आज स्वयं जैन धर्म में भी दोनों में से किसी एक पक्ष को लेकर विवाद करने वाले गुट और व्यक्ति मिल जाएँगे। किन्तु इस विषय को केवल शाब्दिक विवाद का विषय बनाया जा सकता है। मन में हम सब यह जान सकते हैं कि सच्चाई क्या है। ज्ञान और कर्म का या ज्ञान और चरित्र का यह समन्वय एक सहज और स्वाभाविक प्रक्रिया होनी चाहिए जिस प्रकार मूल से फूल जुड़ा रहता है। मूल को अलग काटकर और फूल को अलग तोड़कर फिर उन दोनों को जोड़ कर एक जीवित पौधा नहीं बनाया जा सकता। यह गणित का प्रश्न नहीं है जिसमें समन्वय का अर्थ यह हो कि दो और दो को जोड़ कर चार बनाना है। यह जीवन का प्रश्न है और यहाँ कोई भी समन्वय एक सहज स्वाभाविक अनिवार्यता होनी चाहिए। जहाँ भी कृत्रिमता होगी, वहाँ धर्म दूर हट जाएगा।

ज्ञान और चारित्र्य के साथ ही साथ जैन दर्शन ने एक दूसरा गुण भी अनिवार्य माना और वह है हमारा दृष्टिकोण, हमारा लक्ष्यबिन्दु। ज्ञान और चारित्र्य हमें गति देते हैं पर दिशा नहीं देते। और हम जानते हैं कि दिशा गति से किसी भी दशा में कम महत्वपूर्ण नहीं है। वस्तुतः यात्रा का प्रारम्भ दिशा-निश्चय से होता है, गति से नहीं होता। और बिना दिशा निश्चित किये जो हमारी गति होती है, उसे हम यात्रा नहीं कह सकते। हमारी वास्तविक यात्रा तभी प्रारम्भ होती है जब हमें दिशा का ज्ञान हो जाता है। दिशा का ज्ञान होने के पश्चात् हमारी गति का वेग उतना महत्वपूर्ण नहीं रहता। एक ऐसा व्यक्ति जिसने मद्यपान छोड़ना प्रारम्भ किया है और कल तक एक पाव शराब पीता था, आज तीन छटांक शराब पी रहा है उस व्यक्ति की अपेक्षा जो शराब की मात्रा बढ़ा रहा है और जो कल तक आधा पाव शराब पीता था, आज ढाई छटांक शराब पीता है अच्छा है। हमारी गति का वेग, हमारी साधना का परिमाण, यह सब तभी महत्व रखते हैं, जब हमारी दिशा ठीक है। इस प्रकार दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य के तीन रत्न बनकर, हमारी स्वतन्त्रता का, हमारी मुक्ति का मार्ग बनते हैं[1]। यह कोई पारिभाषिक शब्दों में समझाने की आवश्यकता नहीं है किन्तु एक सहज बुद्धिगम्य विषय है कि इन तीनों में से यदि किसी एक भी तत्त्व का अभाव है तो 'मार्ग अधूरा है' इतना कहना पर्याप्त नहीं होगा, बल्कि सच्चाई यह होगी कि वह मार्ग ही नहीं है।

१. सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः—तत्त्वार्थसूत्र १.१.

१२

# कषायः ऋणात्मक शक्तियाँ

हमने ऊपर कहा कि हमारी दृष्टि विधिपरक होनी चाहिए निषेधपरक नहीं। पर जैन शास्त्रों का अध्ययन इस बात का साक्षी है कि उसमें दृष्टि बहुत कुछ निषेधपरक ही है। इस विषय को अच्छी प्रकार समझ लेने की आवश्यकता है। जैन शास्त्र में जिनका निषेध है, वे स्वयं निषेधात्मक प्रवृत्तियां हैं, वस्तु-स्थिति यह है कि जीवन में हमें सब कुछ प्राप्त है, पर कुछ ऐसी निषेधात्मक ऋणात्मक शक्तियाँ हैं, जो हमारे उपलब्ध पदार्थ को हमसे दूर रखती हैं। यदि साधक की दृष्टि सबसे पहले उन निषेधात्मक शक्तियों के निषेध पर जाय, तो यह स्वाभाविक ही है। हमारा व्यक्तित्व, हमारी सबसे बड़ी सम्पदा है। किन्तु वही व्यक्तित्व जब अहंकार के संकीर्ण वृत्त में कैद हो जाता है, तो मान बनकर एक निषेधात्मक शक्ति का कार्य करता है। वह हमारे व्यक्तित्व को हमारे वास्तविक रूप में दूसरों पर तो अभिव्यक्त होने ही नहीं देता, स्वयं हमारे सम्मुख ही हमारा वास्तविक स्वरूप नहीं आने देता और हम उस सम्पदा से वंचित रह जाते हैं। हमारी दूसरी शक्ति है, हमारा प्रेम। किन्तु हमारा वही प्रेम जब विपरीत दिशा में चलता है तो क्रोध का रूप धारण कर लेता है और वह क्रोध हमें उस प्रेम की अनन्त अनुपम सम्पदा से वंचित कर देता है। आत्मसुरक्षा का भाव प्रकृति ने हमें सहज रूप में दिया है। वह हमारी जीवन सत्ता के लिये अनिवार्य है। किन्तु वही विकृत रूप में लोभ का रूप धारण कर लेता है और जब हम सत्य को तोड़मरोड़ कर उसके उपासक नहीं रह जाते, बल्कि उसे अपना दास बना लेते हैं, तो इसे हम माया कहते हैं। यह मान, क्रोध, लोभ और माया चार निषेधात्मक शक्तियाँ हैं। इन चार को कषाय कहा गया है क्योंकि ये हमारे स्वाभाविक रूप को रंग देती हैं, रंजित कर देती हैं। इन चार का निषेध निषेधात्मक दृष्टि का परिचायक नहीं, प्रत्युत विध्यात्मक दृष्टि का ही पूरक है। हम अपनी प्रेम की और व्यक्तित्व की सम्पदा को प्राप्त कर सकें, सत्य को उपलब्ध कर सकें और एक अभय स्थिति को प्राप्त कर सकें, इसके लिये मान, क्रोध, माया और लोभ का निषेध अनिवार्य है।

१३

# कषायनिषेध : पञ्चव्रत का अमूर्त्त रूप

इन चार का निषेध जब कुछ अधिक मूर्त रूप में आया तो पञ्चव्रत बन गए। किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि जीवन स्वयं एक अमूर्त सत्ता है। उसकी समस्याएं भी अमूर्त हैं और उन समस्याओं के समाधान भी अमूर्त हैं। किन्तु हम जीवन से इतना दूर हैं कि हमें अमूर्त शब्दावली समझ में नहीं आती। हम अमूर्त विषयों को भी मूर्त रूप में लाकर ही सीखने और समझने के अभ्यस्त हो गये हैं। क्रोध कषाय पर विजय को हमने अधिक मूर्त रूप देने के लिए अहिंसा नाम दिया। जीवन की सबसे बड़ी शत्रु हिंसा है क्योंकि जीवन के अन्य शत्रु जीवन का नाश आंशिक रूप में ही कर सकते हैं पर हिंसा उसे समूल रूप से मिटाना चाहती है। जीवन का पोषण अन्य तत्त्वों से भी होता है किन्तु प्रेम जीवन का सबसे बड़ा पोषक तत्त्व है। इसलिए अहिंसा को सर्वप्रथम स्थान मिला। माया के निषेध को मृषावाद विरमण व्रत के अन्तर्गत स्थान मिला और माया और लोभ दोनों का एक समन्वित निषेध अस्तेय-व्रत के अन्तर्गत हुआ। अपरिग्रह के अन्तर्गत लोभ और मान दोनों का निषेध हुआ। प्रेम जो जीवन का सबसे बड़ा पोषक तत्त्व है, उसका ही एक अन्य विकृत रूप था, जिसका निषेध करने के लिए ब्रह्मचर्य नामक एक पंचम महाव्रत की आवश्यकता हुई। इस प्रकार चार कषाय विजय, चतुर्याम धर्म के माध्यम से पंचमहाव्रत के रूप में विकसित हो गई।[1] इन पंचमहाव्रतों ने जहाँ हमें यह समझने की सुविधा दी कि जीवन की चार प्रधान निषेधात्मक शक्तियों का यदि हम निषेध करें तो व्यवहार में उसका क्या रूप होगा, वहाँ दूसरी ओर कषाय विजय, जो एक आन्तरिक गुण था, उसके स्थान पर एक दृष्टि से बाह्य आचरण को प्रमुखता दे दी। यद्यपि इन व्रतों के आन्तरिक पक्ष को निश्चय नाम देकर सिद्धान्त में आचार्यों ने उस ही पक्ष को महत्ता दी, पर मानव स्वभाव ने जो बाहर की नकल करने में अधिक कुशल होता है, बाह्य

१. तुलनीय—स्थानाङ्गसूत्र, ४.१.२६६.

आचरण को अर्थात् व्यवहार पक्ष को अधिक महत्ता दे दी। यह रूप धीरे-धीरे इस अवस्था तक पहुँचा कि अहिंसा केवल रसोई-धर्म रह गया। आहार के सम्बन्ध में कुछ विवेक-मात्र कर लेना ही अहिंसा के पालन के लिये पर्याप्त समझा जाने लगा। क्रोध कषाय का अहिंसा वास्तव में निषेध थी किन्तु क्रोध का निषेध गौण बन गया। अपरिग्रह भी बाह्य वस्तुओं की सीमा बांधने तक सीमित रह गया, यद्यपि आचार्यों ने अपरिग्रह का अर्थ सदा मूर्च्छा का त्याग[1] माना है; बाह्य पदार्थों का त्याग उसका एक सहज फल है। इस प्रकार मान और लोभ की जिन निषेधात्मक प्रवृत्तियों का निषेध अपरिग्रह का मूल भाव था, वह भाव धुँधला हो गया[2] और बाह्य त्याग प्रधान हो गया। सत्य और अस्तेय—गृहस्थ के जीवन में तो केवल मन्दिर तक सीमित रह गये। जीवन में निर्बल का शोषण और दूसरे के अधिकार के अपहरण में अस्तेय का उल्लंघन न माना गया और सब प्रकार के झूठ वचनों को व्यावहारिकता के नाम पर अनुमति मिल गई। ब्रह्मचर्य जो एक अपार सृजनात्मक शक्ति का स्रोत होना चाहिए था, केवल एक सीमित अर्थ में प्रयुक्त होने लगा और इस प्रकार अन्तर की निषेधात्मक प्रवृत्तियों का निषेध जोकि वस्तुतः एक भावात्मक या विध्यात्मक गुण था, बाह्य आचरण में परिणत होकर केवल एक निषेध धर्म मात्र रह गया और तब हमने उस निषेध धर्म का ही गुणगान करना शुरू किया और अजीब-अजीब तर्क उसके समर्थन में देने शुरू कर दिये। पहले खेत में से जो कूड़ा कचरा उग गया है, उसे काटो तो सही, साफ तो करो फिर ही तो वहाँ कुछ उगाओगे इत्यादि इत्यादि। किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि यह निषेधात्मक धर्म हमारे जीवन की महत्वाकांक्षाओं को पूर्ण करने में सर्वथा असफल रहा। और दिन प्रतिदिन इसके प्रति विमुखता बढ़ने लगी। हमने इस बढ़ती हुई विमुखता के मूल कारण को तो नहीं खोजा किन्तु इसे काल का दोष मानकर अपना पीछा छुड़ा लिया।

हमने कहा कि जीवन में हम मूर्त के इतने उपासक हैं कि अमूर्त को भी समझने के लिए मूर्तरूप ही दे देते हैं और साथ ही हमने यह भी कहा कि जीवन वस्तुतः अमूर्त है। इसका क्या अर्थ है ? जीवन को हम अमूर्त क्यों

१. मुच्छा परिगहो वुत्तो—दशवैकालिक, ६.२०.

२. तुलनीय—आन्तरपरिग्रह तथा बाह्यपरिग्रह

—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, ११६.

मानते हैं ? वस्तुतः जीवन मूर्त और अमूर्त का सम्मिश्रण है। किन्तु हम यह जानते हैं कि जीवन का मूल अमूर्त में है और उसकी शाखाएँ मूर्त में हैं। किन्तु यह मूर्त शाखाएँ इतनी विस्तृत हैं कि उनमें जीवन का अमूर्त मूल दिखाई नहीं पड़ता। मूल तो वस्तुतः प्रत्येक पदार्थ का ही अज्ञात रहा करता है। और उस अमूर्त मूल तत्त्व की खोज ही एक तरह से सब दर्शनों का परम लक्ष्य है।

१४

# जीव-अजीव : एक अनादि सम्बन्ध

जैन दर्शन ने जीवन को इन दो भागों में विभाजित कर दिया—अमूर्त और मूर्त। क्योंकि जीवन अमूर्त है इसलिए उस मौलिक अमूर्त तत्त्व को जीव नाम दिया गया और मूर्त तत्त्व की जीवन से भिन्नता दिखलाने के लिये उसे अजीव नाम दिया गया और इस प्रकार यह दो तत्त्व जीव और अजीव मौलिक मान लिये गये। भारत में ऐसी दार्शनिक परम्पराओं की भी कमी नहीं है जो जीवन में केवल एक तत्त्व अमूर्त को ही सत्य मानती हैं और मूर्त तत्त्व को अमूर्त तत्त्व से ही निकलने वाला एक अमौलिक पदार्थ मानती हैं। इस प्रकार वे एक ही मूल तत्त्व की कल्पना करती हैं और वह तत्त्व है चैतन्य। जड़ का विकास चैतन्य से ही होता है। दूसरी ओर ठीक इसके विपरीत जड़ से ही चैतन्य का विकास मानने वाली चार्वाक परम्परा भी है।[1] जैन दर्शन इन दोनों परम्पराओं के बीच में है। वह इन दोनों को सत्य मानता है। यह विषय मूलतः तत्त्वज्ञान का है कि जीवन का कौन सा मौलिक तत्त्व सत्य है। किन्तु जैसा हम ऊपर कह चुके हैं तत्त्व ज्ञान का आचारमीमांसा से घनिष्ठ सम्बन्ध है। समन्तभद्र ने कहा है कि तत्त्व ज्ञान के बिना पुण्य पाप और बन्ध मोक्ष सब की व्यवस्था समाप्त हो जाएगी।[2] उदाहरणतः यदि हम बौद्धों की यह दृष्टि मान लें कि प्रत्येक पदार्थ क्षण क्षण में मूलतः ही परिवर्तित हो जाता है तो धर्म की समस्यायें तो दूर, सांसारिक समस्यायें जैसेकि आर्थिक लेन-देन, पति-पत्नी सम्बन्ध, और 'यह वही है', ऐसी स्मृति भी असम्भव हो जाएगी।[3]

१. चतुर्भ्यः खलु भूतेभ्यश्चैतन्यमुपजायते

—सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० ७.

२. नैकान्तवादे सुखदुःखभोगौ
न पुण्यपापे न च बन्धमोक्षौ

—स्याद्वादमञ्जरी, बम्बई, १९३५, श्लोक ३५.

३. प्रतिक्षणं भङ्गिषु तत्पृथक्त्वान्न मातृघाती स्वपतिः स्वजाया।
दत्तग्रहो नाधिगतस्मृतिर्न तत्त्वार्थसत्यं न कुलं न जातिः॥

—युक्त्यनुशासन, सहारनपुर, १९५१, श्लोक ५.

हमने ऊपर दो परम्पराओं का उल्लेख किया। एक अद्वैत वेदान्त की परम्परा और दूसरी चार्वाक दर्शन की परम्परा। चार्वाक दर्शन की परम्परा में तो हम देखते हैं कि आचार का कोई महत्त्व ही नहीं है। वहाँ तो चैतन्य गुण-युक्त शरीर ही आत्मा है।[१] यदि चार्वाकों से यह प्रश्न किया जाय, कि जड़ से चैतन्य कैसे उत्पन्न हो सकता है, तो इसका उत्तर वे यह कहकर देते हैं कि जिस प्रकार कुछ जड़ परमाणुओं को एक विशेष अनुपात से मिला देने पर मदिरा में मादकता का गुण उत्पन्न हो जाता है उसी प्रकार पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु के संयोग से आत्मा में चैतन्य गुण उत्पन्न हो जाता है।[२]

दूसरी ओर अद्वैतवादी वेदान्त की परम्परा है। जिसके अनुसार सत्य केवल आत्मा है जो नित्य कूटस्थ है और समस्त परिवर्तनशील दृश्यमान जगत् असत्य है। यह केवल हमारे मन की कल्पना है कि हम जगत् में नाम और रूप का आरोप कर लेते हैं। अन्यथा सत्य तो केवल सच्चिदानन्द ब्रह्म ही है। इस एकत्व दर्शन से ही शोक और मोह दूर हो सकते हैं।[3] प्रारम्भ में हमने भी कहा था कि जीवन में सामंजस्य के लिये, समन्वय के लिये ऐक्य का होना आवश्यक है। जबतक दो हैं संघर्ष चलता रहेगा और जब तक संघर्ष है, सुख दूर है।

किन्तु हमने इसके साथ ही साथ यह भी कहा था कि यह ऐक्य भावात्मक होना चाहिए, द्रव्यात्मक ऐक्य का आग्रह करना न वस्तुस्थिति की दृष्टि से ठीक होगा और न उपयोगिता की दृष्टि से। वस्तुस्थिति की दृष्टि से तो यदि हम द्रव्यात्मक ऐक्य को मानें तो हमें अपने सारे अनुभव असत्य मानने होंगे। यदि हम अपने सारे अनुभवों को असत्य मानते हैं तो फिर इसका ही क्या आधार रह जाएगा कि विविधता के समस्त अनुभवों को असत्य मानकर जो हमने द्रव्यात्मक ऐक्य की अनुभूति की, वही सत्य है। उपयोगिता की दृष्टि से भी यह मानना पड़ेगा कि अद्वैत के आधार पर किसी ठोस आचारमीमांसा की

१. तच्चैतन्यविशिष्टदेह एवात्मा

सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० ३.

२. किण्वादिभ्यो मदशक्तिवच्चैतन्यमुपजायते

—वही, पृ० २.

३. तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः

—ईशोपनिषद् , ५.

नींव नहीं रखी जाती। वस्तुतः समस्त अद्वैतशास्त्रों में भी यह घोषणा पद-पद पर की गई है कि हम भावाद्वैत का प्रतिपादन करते हैं, क्रियाद्वैत का नहीं। अर्थात् क्रिया के क्षेत्र में या आचार के क्षेत्र में अद्वैत पूरा नहीं उतरता। स्वयं वेदान्त को इसीलिए पारमार्थिक सत्ता के साथ-साथ व्यावहारिक सत्ता भी स्वीकार करनी पड़ी। इस सम्बन्ध में वेदान्त को ही केन्द्र मानकर लिखने वाले डॉ० राधाकृष्णन के ये शब्द विशेष रूप से उद्बोधक हैं, "चैतन्य आत्मा को पंचभूतों का कार्य समझना आचारमीमांसा की दृष्टि से उतना ही निष्प्रयोजन है जितना कि यह मानना कि यह विविध रूप जगत् एक ही चैतन्य तत्त्व का विविध रूप है।"[1] जैन दर्शन ने इस स्थिति को समझा और भावात्मक ऐक्य पर जो सब प्राणियों की समानता का मूलाधार है, बल दिया। किन्तु द्रव्यात्मक ऐक्य जो प्राणियों की समानता का नहीं, प्रत्युत एकता का आधार बनता है, उसका खण्डन किया और इस प्रकार जैन दर्शन ने जीवन की सरिता को मूर्त और अमूर्त, जीव और अजीव दो किनारों के बीच बहने वाली धारा के रूप में स्वीकार किया जिसमें दो किनारों को जोड़ने वाली कड़ी हमारे संस्कार हैं और क्योंकि यह संस्कार या यह कर्म मूर्त और अमूर्त को जोड़ते हैं, इसलिए इनमें मूर्त और अमूर्त दोनों गुण हैं, यह भाव रूप भी हैं और द्रव्य रूप भी हैं, इनका द्रव्य रूप मूर्त को पकड़े हुए है और इनका भाव रूप अमूर्त को पकड़े हुए है और इस प्रकार जड़ और चैतन्य की एक सन्धि है जो इस संसार का मूल कारण है और जिस सन्धि को तोड़ देना ही चैतन्य की जड़ के प्रभाव से मुक्ति है। हमने ऊपर क्रोध, मान, माया और लोभ जैसी निषेधात्मक शक्तियों का उल्लेख किया और यह भी उल्लेख किया कि किस प्रकार दिशा भ्रम हमें समस्त प्रयत्नों में विफल बना देता है। हमने हिंसा, झूठ, चोरी, बहिर्मुखी वृत्ति और परिग्रह जैसी अपनी प्रवृत्तियों का उल्लेख किया, जो हमारी जड़, चैतन्य से काट कर जड़ में जोड़ देती हैं और यह तो स्पष्ट ही है कि इनके मूल में प्रमाद है, असावधानी है, हमारी कुछ मानसिक, वाचिक और कायिक क्रियायें हैं। इस प्रकार कषाय, मिथ्या दर्शन, अविरति, प्रमाद, योग और बन्ध, चैतन्य को जड़ से जकड़े हुए हैं, जिनका नियन्त्रण करना है, और इन प्रवृत्तियों के कारण जो संस्कार हममें पहले से विद्यमान हैं, उनका उन्मूलन करना है और इस प्रकार चैतन्य को वैभाविक गुणों से मुक्त करके

१. Radhakrishnan, S. Indian Philosophy, Vol. I, पृ० ३१२.

अपने स्वाभाविक गुणों में, अपने अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य में स्थापित करना है तब इस आत्मा की सच्ची स्वतन्त्रता है, तब व्यक्तित्व का पूर्ण विकास है और तब ही व्यक्ति अपने में से सहज स्फूर्त होने वाले सुख को अनुभव करता है। तब हम जीवन के उन छिपे हुए गूढ़ तत्त्वों को, अव्यक्त और सूक्ष्म तत्त्वों को जान लेते हैं जो हमारी अपनी निधि है और तब हम स्वतन्त्र हो जाते हैं और हमारी पूर्ण शक्ति अभिव्यक्त हो जाती है।

१५

# मुक्ति : स्वतन्त्रता

स्वतन्त्रता का विचार आज के जीवन में बहुत प्रिय है। स्पष्ट है कि स्वतन्त्रता का अर्थ है मैं अपनी इच्छा के अनुसार किसी कार्य को चाहूँ तो करूँ और चाहूँ तो न करूँ। वस्तुतः यही कर्म है, यही क्रिया है, शेष सब मात्र प्रतिकर्म हैं, मात्र प्रतिक्रियाएँ हैं। आज मैं अपने जीवन में जिन्हें कर्म कहता हूँ, उनकी ओर दृष्टि डालूँ और देखूँ तो यह लगेगा कि मैं परिस्थितियों के हाथ की कठपुतली हूँ। एक परिस्थिति उत्पन्न होती है और उसकी प्रतिक्रिया में मैं एक कर्म कर देता हूँ; दूसरी परिस्थिति उत्पन्न होती है, उसकी प्रतिक्रिया में मैं दूसरा कर्म कर देता हूँ। मेरा कोई कर्म ऐसा नहीं है जो किसी न किसी परिस्थिति के प्रतिकार में न किया गया हो, जो स्वयं मुझ में से उद्भूत हुआ हो। चारों ओर समाज में फैली हुई धन की महत्ता मुझे धनोपार्जन के लिये पागल कर देती है। पर उस धनोपार्जन के लिए किए जाने वाली समस्त क्रियाओं के लिये क्या क्रिया शब्द या कर्म शब्द का प्रयोग करना उचित होगा या प्रतिकर्म और प्रतिक्रिया शब्द का प्रयोग ठीक होगा? भूख, प्यास, जैसी मूलभूत प्रवृत्तियों के प्रतिकार के लिये किये जाने वाले आहार, निद्रा, भय, मैथुन से लेकर विद्याध्ययन, शास्त्र स्वाध्याय जैसे तथाकथित ऊँचे कर्मों तक क्या कोई कर्म ऐसा है जो कर्म परिस्थिति से स्वतन्त्र होकर मुझमें से प्रस्फुटित हुआ हो और यदि ये सब कर्म परिस्थिति के प्रभाव से उत्पन्न होते हैं तो इन कर्मों का मैं कर्ता कैसे हुआ, मुझे यह स्वतन्त्रता कहाँ है कि मैं उन कर्मों को परिस्थिति से निरपेक्ष होकर स्वतन्त्रतापूर्वक कर सकूँ? यह मेरी लाचारी है, यह मेरी पराधीनता है और जिस दिन मैं इस बाह्य वातावरण से—इस वातावरण में समस्त जड़ और चेतन तत्त्व सम्मिलित हैं—मुक्त हो जाऊँगा उस दिन मेरी सत्य स्वतन्त्रता होगी, उस दिन मेरे जीवन की कृतकृत्यता होगी और यदि यह नहीं होता तो एक परिस्थिति की प्रतिक्रिया में एक कर्म करता हुआ मैं एक दूसरी परिस्थिति की ओर बलात् धकेल दिया जाता हूँ और उस परिस्थिति की प्रतिक्रिया में एक तीसरा कर्म करता हुआ एक तीसरी परिस्थिति की

१६

# स्याद्वाद : सम्वाद

यह कर्म का सिद्धान्त कार्यकारणवाद के सिद्धान्त पर आधारित है। समस्त विज्ञान और दर्शन भी यहाँ तक कि समस्त मानव-चिन्तन कार्यकारण सम्बन्ध की मूल भित्ति पर टिका हुआ है और यही कार्यकारण-सम्बन्ध आचार के क्षेत्र में कर्म-सिद्धान्त बन जाता है। जहाँ यह कहा जाता है कि जैसा बोओगे वैसा काटोगे, जैसा करोगे, वैसा भरोगे, वहाँ हमें यह भी कहना ही होगा कि हम आज जो कुछ काट रहे हैं, हमने अवश्य उसे कभी बोया भी था और हम आज जो कुछ बो रहे हैं, हमें अवश्य एक दिन उसे काटना भी होगा। यह हमारा अपना निजी मामला है। यह ठीक है कि वर्तमान में इस कर्मचक्र ने मुझे बन्धन में बांधा हुआ है पर इस कर्म-सिद्धान्त की समझ ही मुझे इस बन्धन से मुक्त भी करा सकती है।

किन्तु भारतीय विचारकों में सभी विचारक इस मत के नहीं थे कि व्यक्ति स्वतन्त्र है। कुछ व्यक्ति को परिस्थिति का दास मानते थे और कुछ एक ऐसी अतिमानवीय सत्ता की कल्पना करते थे जो व्यक्ति के सुख दुख का निर्णय करती है और कुछ स्वयं व्यक्ति को अपने सुख दुख के लिए उत्तरदायी मानते थे। श्वेताश्वतरोपनिषद् में इन तीनों वादों का—परिस्थितिवाद, आत्मवाद और ईश्वरवाद का—विस्तृत विवेचन है। किन्तु जैन धर्म की यह दृढ़ मान्यता है कि इन तीनों परिस्थितिवाद, आत्मवाद और ईश्वरवाद के समन्वय से ही हम सत्य तक पहुंच सकते हैं। परिस्थितिवाद के अन्तर्गत भी अनेक शाखाएँ हैं जिनमें कुछ काल को, कुछ स्वभाव को, कुछ नियति को, कुछ यदृच्छा को और कुछ भूत को सुख दुख का कारण मानती हैं। आत्मवादियों में आत्मा को ही सुख दुख का कारण माना जाता है और ईश्वरवादियों में जो अतिशयभक्तिवादी हैं, वे तो सुख दुख को ईश्वर की इच्छाधीन ही मानते हैं। पर कुछ लोग ईश्वर भक्ति को भी महत्त्व देते हैं और कर्म को भी। इस प्रकार अनेक विचारधाराओं के मानने वाले संसार में हैं। यह मतविभाजन बहुत प्राचीन काल से चला आता है। जैन धर्म में ३६३ मतों का उल्लेख है किन्तु यहाँ ३६३ की संख्या उपलक्षण मात्र ही समझनी चाहिए। अभिप्राय यह है कि हर व्यक्ति का पृथक्-पृथक् दृष्टिकोण होता है। हर व्यक्ति के दृष्टिकोण

के मूल में कुछ न कुछ सत्य भी अवश्य रहता है। किन्तु इस सत्य को खोज निकालने के लिए एक निष्पक्ष दृष्टि चाहिए। जैन दर्शन में इस समन्वय के पक्ष पर इतना अधिक बल दिया गया कि गोम्मटसार ने यह स्पष्ट कह दिया कि जैनेतर दृष्टियाँ इसलिये मिथ्या हैं कि वे केवल अपने-अपने दृष्टिकोण को ही सर्वथा सत्य मानती हैं और दूसरों के दृष्टिकोण में कोई सच्चाई नहीं मानती। किन्तु ये ही दृष्टिकोण यदि अन्य दृष्टिकोणों के सत्य पर भी ध्यान दें तो सत्य बन जाते हैं। यह सर्वथा और कथञ्चित् का भेद है।[1] सर्वथा कहने वाला अभिमानी तो है ही, अज्ञानी भी है। कथञ्चित् कहने वाला विनम्र तो है ही, अपना दिमाग भी नये-नये सत्य के लिए खुला रखता है। इस विनम्रता का अर्थ संशयवाद नहीं है और यह दृष्टिकोण कोई समझौते के निर्बल आधारों पर भी नहीं खड़ा है प्रत्युत इसका सुदृढ़ आधार है वस्तुस्वभाव जो अनन्त-गुणरूप है। वस्तु के पूर्ण स्वरूप को जानने की सामर्थ्य तो केवल सर्वज्ञ में ही है और कह सकने की सामर्थ्य तो शायद इनमें भी नहीं है। किन्तु जितना वस्तु का स्वरूप हमें ज्ञात है, जब हम उसी को वस्तु का पूर्ण रूप मानने लगते हैं, तो वस्तु के दूसरे कई अनेक महत्त्वपूर्ण पक्ष उपेक्षित रह जाते हैं। इसमें हमारे मानने या नहीं मानने का प्रश्न नहीं है। वस्तु का स्वरूप निसर्गतः जटिल है और उसे जानने का यही एक ढंग है कि ज्ञात स्वरूप को जाना हुआ मान लिया जाए और अज्ञात स्वरूप के सम्बन्ध में जिज्ञासा रखी जाए। वादविवाद के लिए कोई वस्तु स्वरूप का सर्वथा अपलाप करते हुए निर्गल बातें कहने लगे, यह एक दूसरी बात है। यह वितंडा और जल्प है। किन्तु तर्क के अन्तर्गत हर व्यक्ति जब वस्तु स्वरूप के सम्बन्ध में कोई वक्तव्य देता है, तो उसके पीछे एक सत्य, एक दृष्टि अवश्य होती है। परिस्थितिवाद भी सर्वथा झूठ नहीं है और ईश्वरवाद भी सर्वथा काल्पनिक नहीं है। केवल आत्मवाद और कर्मवाद के आधार पर व्यक्ति अपने आपको भले ही पूर्ण स्वतन्त्र मानकर चले, पर व्यवहार में उसे स्थान-स्थान पर परिस्थितियाँ ठोकर मारेंगी और उसे यह लगेगा कि उसे परिस्थितियों की महत्ता भी स्वीकार करनी है। यह ठीक है कि इन सब दृष्टिकोणों में व्यक्ति अपनी अनुभूति के अनुसार हेयोपादेय बुद्धि रखेगा, किसी को विशेष महत्त्व देगा, किसी को गौण कर देगा, पर सर्वथा अपलाप किसी का भी करना कठिन है।

१. परसमयाणं वयणं मिच्छं खलु होइ सव्वहा वयणा।
जेणाणां पुण वयणं सम्मं खु कहंचि वयणादो ।।
—गोम्मटसार, लखनऊ, १९३७, कर्मकाण्ड, ८९५.

१७

# कालवाद : कालजयी

परिस्थितिवाद के अन्तर्गत पाँच विकल्प हैं—काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा और भूत।[1] ये पाँचों ही व्यक्ति का स्वरूप नहीं हैं, बाह्य परिस्थितियाँ हैं, पर व्यक्ति के अपने स्वरूप को प्रभावित अवश्य करती हैं इसलिए आंशिक रूप में इन सबकी ही महत्ता को स्वीकार करना होगा।

इतिहास के प्रारम्भ से ही काल को अत्यन्त महत्वपूर्ण माना गया है। जगत् के समस्त परिवर्तन में अन्ततः काल भी एक महत्वपूर्ण तथ्य है। अथर्ववेद ने कहा, "वही त्रिलोक को धारण करता है, वही समस्त भुवनों को घेरे हुए है, उससे बढ़कर दूसरा तेज नहीं है।"[2] यह काल की महत्ता है जिसे गोम्मटसार ने निम्न शब्दों में प्रकट किया, "काल सबका सृजन करता है, काल सब का नाश कर देता है, सुप्त लोगों में काल ही जागृत है, काल का कोई प्रवंचन नहीं कर सकता।"[3] स्पष्ट है कि समय ही व्यक्ति को समर्थ और असमर्थ बना देता है। बड़े-बड़े राज्य और उनके अधिपति जिनके तेज का कोई पारावार नहीं था, काल के अगाध गर्त्त में ऐसे विलीन हुए कि उनका नाम भी शेष नहीं रहा। समय हमारे बड़े से बड़े घावों को भर देता है, हमारे बहुत से कार्य और चिन्तन समय के साथ चलते हैं। यह बहुत कुछ देखने में आता है कि कोई विशेष समय किसी विशेष कार्य के लिए उत्तरदायी होता है और उपयुक्त या अनुपयुक्त होता है। हम जानते हैं कि कुछ कार्य प्रातःकाल ही प्रीतिकर लगते हैं और कुछ सायंकाल में। कुछ कार्य बाल्यकाल में ही आनन्द दे पाते हैं कुछ युवावस्था में और कुछ वृद्धावस्था में ही रोचक लगते हैं। यह

१. कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा
भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्याः
—श्वेताश्वतरोपनिषद्, १.१२.

२. स एव सं भुवनान्याभरत् स एव सं भुवनानि पर्यैत्
...तस्माद् वै नान्यत् परमस्ति तेजः
—अथर्ववेद, शौंध, १९.५३.४.

३. गोम्मटसार, कर्मकाण्ड, ८७९.

सब समय का प्रभाव है। किन्तु काल एक जड़ सत्ता है, वह हमें कठपुतली की तरह नहीं नचा सकती। हम अपने पुरुषार्थ से कालजयी हो सकते हैं, कालातीत हो सकते हैं; समय के इशारे पर नाचने की बजाय, समय को अपने इशारे पर नचा सकते हैं। युग के काल धर्म पर तो सभी सामान्य मनुष्य चलते हैं पर युगनिर्माता वे होते हैं जो युग के काल-धर्म को अपने पुरुषार्थ से गति देते हैं, दिशा देते हैं। यदि सभी लोग समय के प्रवाह में बहने वाले होते तो मानव जाति का कोई उत्थान, कोई विकास सम्भव ही नहीं था और एक समय में क्योंकि काल एक समान ही होता है, अतः सब व्यक्तियों की अवस्था भी एक समान ही होनी चाहिए थी, व्यावहारिक जीवन में हम देखते हैं कि व्यक्ति यह कहकर कि समय आने पर स्वयं हो जाएगा, अपने उत्तर-दायित्व को टाल देते हैं और अपनी आत्मा के वीर्य को अभिव्यक्त नहीं होने देते। जैन दर्शन ऐसे लोगों को सावधान करता है कि हम समय के दास नहीं हैं, समय हमारा दास है। पर ऐसे लोग जो समय असमय का विचार किये बिना, एवं समय के प्रभाव तथा उसकी गति को समझे बिना केवल पुरुषार्थ के भरोसे रहते हैं, उनका पुरुषार्थ कोई विशेष प्रभाव नहीं दिखलाता। हर युग-निर्माता महापुरुष जहाँ अपने काल धर्म से ऊपर उठा है, वहाँ उसने अपने काल धर्म को पहचाना भी खूब है। आज हम देखते हैं कि धर्म के क्षेत्र में लोग काल की गति को न समझने के कारण और धर्म के सत्यों को शाश्वत सनातन मानने के कारण बहुत सी ऐसी परम्पराओं को ढोते चले जा रहे हैं जो काल धर्म के अनुकूल नहीं पड़तीं। धर्म के सिद्धान्त शाश्वत हैं, पर संसार में नित्य कूटस्थ कुछ भी नहीं है और उन धर्म के सिद्धान्तों को जब तक काल-धर्म की कसौटी पर कस कर नहीं परखा जाएगा, तब तक सनातन धर्म की दोहाई देने से धर्म हमारे जीवन में कोई उपयोगी कार्य नहीं कर सकेगा। जैन धर्म का यह मूल-भूत सिद्धान्त, कि नित्यता और परिवर्तन साथ-साथ चलते हैं, इस बात के लिए एक चेतावनी है कि धर्म को उसकी आत्मा नित्य रहने पर भी अपना बाह्य स्वरूप कालधर्म, युगधर्म के अनुसार बदलना होगा। यदि कोई धर्म काल-धर्म की अवहेलना करेगा तो निश्चय ही वह कुछ दिनों में केवल शास्त्रों में लिखा जाने वाला एक सिद्धान्त मात्र बन कर रह जायेगा। जीवन में उसका उपयोग और व्यवहार समाप्त हो जाएगा। स्वयं जैन धर्म का इतिहास इस बात का साक्षी है कि इस धर्म में समय-समय पर परिवर्तन हुए; आगम युग में आचार्य जिस भाषा और शैली में उपदेश देते थे, उसमें केवल

परहित, दूसरे के कल्याण की कामना और निज मन्तव्य का प्रतिपादन ही अभीष्ट रहता था, उसकी भाषा भी बोलचाल की भाषा होती थी। समय के प्रभाव से जब तर्कप्रधान युग आया तब जैनाचार्यों ने उमास्वाति, सिद्धसेन, दिवाकर, समंतभद्र, भट्ट अकलंक जैसे उद्भट प्रखरमति तार्किक भी उत्पन्न किये जिन्होंने परमतखंडन पूर्ण ऊहापोह-पूर्वक किया और जिस समय संस्कृत भाषा ने विद्वद्वर्ग में अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया, तब जैन आचार्य भी अपने ग्रन्थों में अलंकृत और प्रौढ़ संस्कृत भाषा लिखने में किसी से पीछे नहीं रहे। उन्होंने उस समय यदि यह हठ किया होता कि हम तो परम्परागत आगमिक शैली में ही लिखेंगे और जनसाधारण की भाषा में ही प्रचार करेंगे तो संभवत: जैन साहित्य आज इतना समृद्ध भी न होता।

हम यहाँ इस तथ्य पर इसलिए विशेष बल देना चाहते हैं कि जिस गति से समय आज के वैज्ञानिक संसार में बदल रहा है, उस गति से मानव जाति के इतिहास में शायद पहले कभी नहीं बदला था और पिछले दो सौ वर्षों में मानव जाति के ढाँचे में जो परिवर्तन हुआ है, वह पिछले दो लाख वर्षों में कुल मिलाकर जो परिवर्तन हुआ, उससे कहीं अधिक है। विज्ञान की गति को देखते हुए कोई आश्चर्य की बात नहीं कि पिछले दो सौ वर्षों में जो परिवर्तन हुआ है, कोई ऐसा अद्भुत और आश्चर्यजनक कल्पनातीत आविष्कार विज्ञान के जगत् में कल हो जाय, कि उससे कहीं बहुत बड़ा परिवर्तन मानव जाति में आ जाये। इस समय की तीव्र गति से धर्म के लोग चिंतित हैं और उनकी यह चिन्ता स्वाभाविक भी है।

किन्तु जैन दर्शन में रुचि रखने वाले व्यक्तियों को धर्म की मूलभूत भावना को ध्यान में रखना होगा। सत् में उत्पाद और व्यय एक अनिवार्य शर्त है यद्यपि वह उत्पाद और व्यय सत् की ध्रुवात्मकता को समाप्त नहीं कर देता। द्रव्य की सत्ता बिना पर्याय के और पर्याय की सत्ता बिना द्रव्य के असम्भव है, फिर परिवर्तन से भय कैसा ? पर्याय परिवर्तनशील है, द्रव्य स्थिर है। धर्म का मूल रूप सनातन है, किन्तु बाह्य रूप परिवर्तनशील है और इस परिवर्तन की बाढ़ में यदि धर्म के बाह्य रूप में कुछ परिवर्तन आता है तो हम उस से डरते क्यों हैं। उदाहरण के लिये एक विषय—जातिवाद और जातिवाद से ही सम्बद्ध अछूतोद्धार का विषय—हम लें। जैन धर्म प्रारम्भ से जन्मत: जाति का विरोधी रहा है। उसने जाति के आधार पर व्यक्ति और व्यक्ति में भेद

का सदा डट कर सामना किया है।[1] पर वह जातिवाद का उन्मूलन नहीं कर सका। प्रत्युत समय के प्रभाव से स्वयं उसका शिकार हो गया। आज समय की गति विपरीत दिशा में है. संविधान ने जातिवाद को, अस्पृश्यता को गैरकानूनी करार दे दिया है और यह जैन धर्म के लिये स्वागत का विषय होना चाहिए क्योंकि जातिवाद का विरोध उसकी मूल धर्म भावना से सर्वथा मेल खाता है। किन्तु जातिवाद के ही प्रबल समर्थक ब्राह्मणों में और हिन्दू धर्मावलम्बियों में तो जातिवाद के विरुद्ध आवाज़ उठाने वाले बड़े-बड़े युगपुरुष हुए, किन्तु अपवाद को छोड़ दें, तो जैनधर्मावलम्बियों ने इस विषय में न केवल उदासीनता बरती, प्रत्युत सामान्यतः अपनी रूढ़िवादिता का ही परिचय दिया। मन्दिरों के हरिजन प्रवेश इत्यादि विषयों पर समाज का नेतृत्व करना तो दूर रहा, समाज का सहयोग भी नहीं दिया। वे समय की नब्ज को नहीं पकड़ सके और परिणाम यह हुआ कि एक बहुत बड़े कार्य को जिसे वे बहुत अच्छी प्रकार कर सकते थे, उन्होंने नहीं किया। और इस विषय में नेतृत्व अजैनों के हाथ में रहा। भला कार्य किसी के भी माध्यम से हो, यहाँ विवेचना का विषय यह नहीं है कि वह कार्य अजैनों के माध्यम से क्यों हुआ। विचारणीय प्रश्न यह है कि वह कार्य जैनों के माध्यम से क्यों नहीं हुआ।

दूसरी ओर हम देखते हैं कि समय के प्रभाव का बहाना लेकर धर्म के स्वरूप में ऐसे-ऐसे विकार आ रहे हैं जो धर्म की मूल भावनाओं से मेल नहीं खाते। यहाँ उन विकारों की नामतः चर्चा करना अशोभनीय होगा किन्तु धर्म में आये हुए उन विकारों से हम सब परिचित हैं, आपस में गुपचुप उसकी चर्चा भी करते हैं, पर उसे समय का प्रभाव कहकर टाल जाते हैं और वहाँ हमें वह पुरुषार्थ का सन्देश जो महावीर ने दिया, और जो हमें कोरा समय की हाथ की कठपुतली होने से बचाता है, हमारे किसी काम नहीं आता। यह कालवाद का दुष्प्रयोग है, यह कालवाद की मिथ्यादृष्टि है। पर इसके विपरीत समय के प्रभाव से आने वाले दुष्प्रवृत्तिपूर्ण कार्यों में चट्टान के समान सुदृढ़ भाव से खड़ा होने वाला और समय की गति को पहचानते हुए धर्म के मौलिक सिद्धांतों का ध्यान रखते हुए तदनुकूल धर्म के बाह्य रूप में सुधार को लाने वाला सम्यक् कालवादी होगा, उसकी काल-दृष्टि सम्यक् है।

१. एक्का मणुस्सजाई—आचाराङ्गनिर्युक्ति, १९.
द्रष्टव्य उत्तराध्ययन, १२.३७ तथा आदिपुराण, ३८.४५.

१८

# स्वभाववाद : प्रकृतिवादी

एक दूसरा गुट स्वभाववादियों का है जिनका कहना है कि सभी का कारण उन पदार्थों का सहज स्वभाव है और प्रत्येक व्यक्ति अपने स्वभावानुकूल ही कार्य करता है। एक प्रकार से देखें तो यह मत बहुत सीमा तक सत्य है किन्तु दूसरी ओर इस मत के अनुसरण से शैथिल्य आ जाने की भी पूरी संभावना है। स्वभाव का ठीक-ठीक अर्थ भी जानना बहुत महत्त्वपूर्ण है क्योंकि जैसा हमने प्रारम्भ में विस्तारपूर्वक प्रतिपादन किया है इसकी बहुत अधिक सम्भावना रहती है कि हम विभाव को ही स्वभाव मान बैठें। यदि स्वभाव का अर्थ यह विकृत स्वभाव लिया जाय, तब तो यह परिणाम होगा कि एक चोर चोरी को, शराबी शराब पीने को अपना स्वभाव बतलायेगा। स्वभाववादियों की ओर से जो तर्क गोम्मटसार में दिया गया है, वह यह है कि यदि प्रत्येक पदार्थ का कारण स्वभाव नहीं है तो कंटकों को तीक्ष्ण कौन बनाता है और हिरणों में और पक्षियों में रंग की विविधता कौन पैदा कर देता है ?[1] यह उदाहरण बहुत विचित्र है क्योंकि यहां जो दो उदाहरण दिये गये हैं, वे मनुष्य जीवन के नहीं हैं, उनमें से एक पक्षी जीवन से लिया गया है और दूसरा वनस्पति जीवन से। इन उदाहरणों से ऐसा आभास होता है कि शायद ये स्वभाववादी आज के पश्चिम में चल रहे प्रकृतिवादियों से मिलते जुलते होंगे। ये प्रकृतिवादी आज मनुष्य जीवन के पतन का कारण यह मानते हैं कि हम प्रकृति से दूर हट गये हैं। वे समाज के समस्त बन्धनों को तोड़ना चाहते हैं। उनमें से कुछ इतने अतिवादी हैं कि वे मनुष्य के वस्त्र पहनने तक के विरोधी हैं और नग्न रहने का प्रतिपादन करते हैं। वे यह मानते हैं कि मनुष्य ने जो कुछ भी प्रगति, सभ्यता या संस्कृति के क्षेत्र में की है, वह उसका विकास नहीं है, ह्रास ही है।

इन प्रकृतिवादियों की जीवनचर्या पर ध्यान दें तो यह स्पष्ट हो जाएगा,

१. को करइ कंटयाणं तिक्खत्तं मियविहंगमादीणं ।
विविहत्तं तु सहाओ इति संव्वपि य सहाओत्ति ॥
—गोम्मटसार, कर्मकाण्ड, ८८३.

कि ये जो कुछ कहना चाहते हैं उसमें एक सत्य भी है। किन्तु साथ ही एक अति भी है, एक ऐसी अति जो उनके जीवन को और सिद्धान्तों को उपहासास्पद बना देती है। प्रकृति के निकट रहने की बात ठीक है। पर प्रकृति किसकी ? शरीर की या आत्मा की ? यदि हमें शरीर की प्रकृति को प्रमुख रखना है तब तो ऐसा लगेगा कि प्रकृतिवाद मनुष्य को फिर उसी पाशविक स्थिति में ले जाना चाहता है, जिससे लाखों वर्षों के प्रयत्न के अनन्तर मनुष्य आगे बढ़ा है। हमारे शरीर की प्रकृति तो वही है जो पशु के शरीर की प्रकृति है और हम यदि उसे ही अपने जीवन का मार्ग निर्देशक मान लें तो हमारे जीवन में और पशु के जीवन में क्या अन्तर रह जाएगा ? किन्तु प्राणी केवल शरीर से नहीं बना; उसमें जीवन भी है, उसमें एक चैतन्य ज्योति भी है, और यदि स्वभाववाद हमारा ध्यान उस चैतन्य ज्योति की ओर और उसके स्वभाव की ओर आकृष्ट करना चाहे तो उसका स्वागत है। किन्तु यदि वह यह चाहता है कि मनुष्य अपनी समस्त सांस्कृतिक उपलब्धियों को छोड़कर आदिम युग में आ जाए तो यह उसकी भूल होगी क्योंकि इतिहास अपने को कभी दोहराया नहीं करता। वे घटनाएँ जो अतीत हो चुकी हैं, उनकी पुनरावृत्ति नहीं की जा सकती। प्रकृतिवाद हमें समाज के बन्धनों से, पाप और पुण्य के पचड़े से छुड़ाना चाहता है और वह कार्य तो धर्म भी करता है। किन्तु धर्म का लक्ष्य पाप और पुण्य के पचड़े से छुड़ाकर मनुष्य को एक पाप-पुण्यातीत स्थिति में पहुँचाना है, न कि प्रकृतिवाद की तरह उसे अनैतिक बनाना।

स्वभाव का अतिक्रमण तो हम नहीं कर सकते। यह ठीक ही है कि हमारे समस्त प्रयत्न स्वभाव की सीमा के अन्तर्गत ही सफल हो सकते हैं। किन्तु इसका यह अर्थ तो नहीं कि हमें पुरुषार्थ छोड़ देना है। पुरुषार्थ भी तो मनुष्य के स्वभाव का ही एक अंग है। जो पुरुष को छोड़कर स्वभाववाद का प्रतिपादन करता है, वह इस तथ्य को भूल जाता है। यदि स्वभाव से यहाँ अर्थ हमारे संस्कार और आदतों का है तो भी यह मानना होगा कि उन संस्कार या आदतों को हम अपनी दृढ़ इच्छा-शक्ति से बदल सकते हैं। इस प्रकार केवल अपने संस्कारों के हाथ की कठपुतली होने से बचे रह सकते हैं। तब भी एक मनोवैज्ञानिक के लिये किसी व्यक्ति के संस्कारों का या आदतों का अध्ययन करना आवश्यक है। ये हमारे संस्कार ही हैं जो हमें हमारा व्यक्तित्व प्रदान करते हैं। जीवन की समस्याओं को यदि सुलझाना है तो उसके लिए हमें अपने संस्कारों का अध्ययन अवश्य करना होगा।

स्वभाववाद का एक दूसरा भी पक्ष है और वह पक्ष है प्रकृति की शक्ति में विश्वास। अग्नि उष्ण है, जल शीतल है, इन्हें उष्ण या शीतल किसी ने बनाया नहीं, यह इनकी प्रकृति है। जैन धर्म इस सम्बन्ध में स्वभाववादियों का साथ देता है। वह भी यह मानता है कि संसार के समस्त पदार्थ अपने सहज गुणों सहित क्रिया-प्रतिक्रिया द्वारा विश्व का संचालन स्वयं करते हैं। उसका कोई स्रष्टा नहीं है।

किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि मैं अपना निर्माण अपने आप नहीं कर सकता और मेरे संस्कार ही मेरा निर्माण करते हैं। संस्कार मेरे द्वारा निर्मित हैं और निर्मित पदार्थ निर्माता से बड़ा नहीं होता। वे संस्कार मेरी शक्ति से इतने अधिक प्रबल नहीं हो सकते कि मुझे पंगु बना दें।

इसी प्रकार हमें प्रकृतिवाद और सांस्कृतिक विकास के बीच भी विवेक करना होगा। मनुष्य जाति ने जो सांस्कृतिक विकास मनुष्य के सुख के लिये किया है, वह उपादेय है, उसे अपनाना चाहिए। पर जो विकास प्रतिस्पर्द्धा में गलत दिशा में हो गया, वह तो वस्तुतः विकास नहीं है, ह्रास ही है। कौन समझदार आदमी इस बात का स्वागत न करेगा यदि आज समस्त संसार के राष्ट्र अपने उन समस्त विध्वंसक अस्त्र-शस्त्र को नष्ट कर दें और आगे उनका निर्माण बन्द कर दें, जिन अस्त्र-शस्त्रों का हमने पिछली शताब्दियों में निर्माण किया है। होड़ा-होड़ी में जिनके निर्माण में जितना धन लगाया जा रहा है, उतना धन यदि मनुष्य जाति के रचनात्मक कार्यों में लगाया जाय, तो मनुष्य जाति की समस्याओं का अधिकांश भाग तुरन्त हल हो सकता है। पर जहाँ हमने अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण किया, वहाँ हमने बहुत सी उपयोगी कलाएँ भी विकसित की हैं और उन कलाओं का वैज्ञानिक पद्धति से वस्तुपरक निष्पक्ष विवेचन होना चाहिए कि उनका कितना अंश हमारे लिए उपयोगी है और कितना अनुपयोगी है और उपयोगी अंश का ग्रहण और अनुपयोगी अंश का त्याग करना चाहिए। यह स्वभाववाद की सम्यक्-दृष्टि होगी और हम समस्त मानव जाति के विकास को छोड़कर यदि आदिम युग के मनुष्य को पुनर्जीवित करना चाहें तो यह स्वभाववाद की मिथ्या-दृष्टि होगी।

१६

# नियतिवाद : भाग्यजयी

कालवाद और स्वभाववाद के अतिरिक्त एक तीसरा वाद है नियतिवाद जिस पर हमें थोड़ा विस्तार से विचार करना होगा क्योंकि भारतीय दर्शनों में सामान्यतः और वर्तमान जैन जगत् में विशेषतः यह चर्चा का विषय बना हुआ है। इसकी चर्चा पर बहुत से लोग आज भी चौंक जाते हैं और चौकन्ने हो जाते हैं यद्यपि ऐसी कोई आवश्यकता नहीं है। अनेकान्त की दृष्टि इतनी स्पष्ट है कि उसमें भय का कोई स्थान नहीं है। वह वस्तुपरक दृष्टि है, व्यक्ति-परक दृष्टि नहीं है। उसमें हमें जो जैसा है, उसको वैसा देखना और जानना है, अपनी रुचि के अनुसार उसे तोड़ना, मरोड़ना नहीं है। ऐसा नहीं है कि यह चर्चा केवल जैन दर्शन में ही चल रही हो, प्रत्युत आधुनिक नीतिशास्त्र में भी नियतिवाद और इच्छा-स्वातन्त्र्य की चर्चा पूरे जोरों से चलती है।

हमें अपनी दृष्टि को स्पष्ट रखना है कि वस्तु का स्वरूप हमारे पक्षपात से नहीं बदलेगा। हमें अपनी दृष्टि को वस्तुस्वरूप के अनुसार बदलना होगा। जैन शास्त्र स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि एकान्त नियतिवाद भी गलत है और एकान्त अनियतिवाद भी।[1] किन्तु इसको समझने के लिए इस विषय की गहराई में जाना होगा। हम सर्वथा नवीन व्यक्ति नहीं हैं, हमारा भूतकाल भी है। और यदि हम अपने भूतकाल को व्यर्थ मान लें तो फिर हमारा वर्तमान भी व्यर्थ हो जाएगा क्योंकि आज जो वर्तमान है, कल वही भूतकाल भी बनना है और जो आज भूतकाल लगता है कल वही वर्तमान भी था। वस्तुस्थिति यह है कि यह काल का भूत, भविष्य और वर्तमान में किया जाने वाला विभाजन हम लोगों का है जो कि केवल वर्तमान को ही देख सकते हैं पर जिनकी पैनी दृष्टि काल का अतिक्रमण कर गई है जिन्हें भूत और भविष्य भी वर्तमानवत् हस्तामलकवत् है। स्पष्ट है उनके लिए काल का व्यवधान कोई अर्थ नहीं रखता। हमारी दृष्टि से हम केवल वर्तमान में जो हैं, सो हैं।

१. सूत्रकृताङ्ग, १.१.२.४.

किन्तु यह वर्तमान हमारी सत्ता का पूर्णांश नहीं है प्रत्युत मध्य है। आदि और अन्त हमारी दृष्टि से अज्ञात है, ओझल है।[1] यदि हम अपने आपको भूत, भविष्य और वर्तमान में एक जुड़ी हुई कड़ी के रूप में देखें तो हमें लगेगा कि हमारा वर्तमान भूतकाल की देन है और हमारा भविष्य वर्तमान की देन है। यह तो संसार में प्रत्यक्ष देखने में आता है और सभी अनुभव इस सत्य के साक्षी हैं कि कोई भी कार्य अपना फल तुरन्त नहीं देता। आज जो बीज हम बोते हैं, उसका फल सम्भव है हम इस जन्म में खा सकें या न खा सकें। ऐसी स्थिति में यह बहुत सम्भव है कि आज जो बहुत से फल हम भोग रहे हैं उनका बीज हमने अपने इस ज्ञात जीवन में न बोया हो। यह विषय बहुत विवाद का है और पुनर्जन्म की स्थिति है या नहीं, इस पर अब विश्वविद्यालयों में विधिवत् वैज्ञानिक पद्धति से भी खोज होने लगी है। हम इतना अवश्य जानते हैं कि हम अपने अन्तर्जगत् को पूर्णत: नहीं जानते। स्वप्न की अवस्था में अर्द्धचेतन मन ऐसे-ऐसे विचित्र पदार्थ और कल्पनाएँ हमारे सामने ले आता है जिनकी जागृत अवस्था में हमने कभी कल्पना नहीं की थी। हम अपने अन्दर झांककर देखें तो यह लगेगा कि हमारे मन में उठने वाले विकल्पों का कोई ओर-छोर नहीं है, कोई आदि-अन्त नहीं है और यह अन्तर्जगत् में उठने वाले विकल्प यह तो मानना ही होगा कि कम से कम हमारे पुत्र, स्त्री और धन या शरीर की अपेक्षा भी हमारे व्यक्तित्व का अधिक निकट भाग हैं। इन विकल्पों के अगाध समुद्र में गोता लगाने पर भी हमें अपनी सत्ता की अनादिता और अनन्तता का कुछ न कुछ आभास तो होता ही है।

ऐसी स्थिति में क्या हम अपने आपको अपने इस वर्तमान जीवन की सीमित मर्यादाओं में बाँध कर ही पूरा देख सकते हैं? यदि नहीं तो फिर हमें अपने वर्तमान को मूलभूत में खोजना होगा किन्तु क्या वह मेरा भूतकाल मुझसे भिन्न है? भूतकाल में जो कुछ करके मैंने अपनी स्वतन्त्रता को जितना सीमित कर लिया, क्या वह मेरा पारतन्त्र्य है? कोई व्यक्ति अपने हाथों अपने पाँव में बेड़ियाँ डालकर और फिर अपने व्यक्तित्व से पृथक् खड़ा होकर यह नहीं कह सकता कि मेरे पाँव बँधे हुए हैं, मैं परतन्त्र हूँ। यह ठीक है कि

१. अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना।
—गीता २.२८.

भूतकाल के कर्मों ने हमारी वर्तमान शक्ति की सीमाएँ बाँध दी हैं और हमारे वर्तमान के कर्म भी हमारे भविष्य के व्यक्तित्व की सीमा बाँधते हैं। किन्तु यह परतन्त्रता नहीं है। अधिक से अधिक हम यह कह सकते हैं कि हमें यह भी स्वतन्त्रता है कि हम चाहें तो परतन्त्र हो जाएँ। यह ठीक है कि परतन्त्र होना कोई नहीं चाहता। किन्तु चाहना न चाहना ज्ञान के साथ जुड़ा हुआ है। अज्ञान में न चाहते हुए भी हम बहुत से ऐसे कार्य करते हैं जिन्हें यदि हम जानते तो न करना चाहते। कभी-कभी जानकर भी और न चाहते हुए भी हम ऐसे कार्य कर बैठते हैं जिन्हें हम वस्तुतः नहीं करना चाहते। एक जगह ज्ञान शक्ति का अभाव है, दूसरी जगह इच्छा शक्ति का, पर परिणाम दोनों जगह एक ही निकलते हैं। फल हमें उस कार्य का मिलता है जो हम वस्तुतः करते हैं न कि उस कार्य का जिसकी हम अज्ञानवश उस कार्य से आशा करते हैं।

अभिप्राय यह है कि मुझे यह स्वतन्त्रता भी प्राप्त है कि मैं जब चाहूँ अपनी शक्तियों को सीमित कर लूँ। वस्तुतः यदि मेरे भूतकाल की रेखाएँ भूतकाल के साथ ही समाप्त हो जाएँ और वर्तमान की रेखाएँ वर्तमान के साथ ही समाप्त हो जाएँ तो मेरे कर्म एक प्रकार से निष्फल कहे जाएँगे। हमने ऊपर कहा कि यह जीवन की एक कठोर सचाई है कि बीज बोने के समय में और वृक्ष आने के समय में यह अवश्य व्यवधान रहता है। ऐसी स्थिति में यदि हमारा भूतकाल वर्तमान तक आते-आते अपनी छाप नहीं छोड़ता तो यह मानना होगा कि हमारा भूतकाल व्यर्थ गया क्योंकि उसने भूतकाल में तो अपना कोई प्रभाव दिखलाया नहीं और वर्तमान तक आते-आते वह समाप्त हो गया। तो फिर उसका प्रभाव कैसे प्रकट हो ?

वस्तुतः हममें से प्रत्येक अपने भूतकाल से बँधा हुआ है। हमारा वर्तमान हमारे भूतकाल में से पैदा हुआ है। यह बहुत कुछ सत्य है। पर इस सत्य को इस सीमा तक ले जाने वाले लोगों की भी कमी नहीं, जो यह कहने के लिये तैयार हैं कि क्योंकि हमारा वर्तमान भूतकाल द्वारा सीमित है, इसलिये हमारा वर्तमान सर्वथा व्यर्थ ही है। हमारा वर्तमान यदि सर्वथा व्यर्थ है तो क्या वह भूतकाल जिसने हमारे वर्तमान को व्यर्थ बना दिया, कभी वर्तमान नहीं था ? क्या जिस प्रकार हमारा यह वर्तमान व्यर्थ है, उस ही प्रकार हमारा वह वर्तमान भी व्यर्थ नहीं होना चाहिए ? यह एक ऐसा तार्किक उभयतःपाश है कि हम बिना पुरुषार्थ के नियति और बिना नियति के पुरुषार्थ

को तर्कसंगत पद्धति से सिद्ध ही नहीं कर सकते क्योंकि पुरुषार्थ क्या है और नियति क्या है ? हमारा भूतकाल का पुरुषार्थ हमारी नियति है। और हमारे वर्तमान का पुरुषार्थ हमारा पुरुषार्थ है। पर यह भेद तात्त्विक नहीं है। क्योंकि हमारा भूतकाल का पुरुषार्थ ही किसी समय तो हमारे वर्तमान का पुरुषार्थ था। और इस प्रकार यदि देखें तो एक ही क्रिया भूतकाल की अपेक्षा से नियति और वर्तमान की अपेक्षा से पुरुषार्थ है। इन दोनों में से जो एक भी निषेध करता है, वह दोनों का निषेध करता है।

किन्तु भारतवर्ष में प्राचीन काल में और आधुनिक काल मे तथा पश्चिम में भी ऐसे दार्शनिक होते रहे हैं जिन्होंने नियति को सर्वथा सशक्त माना है और पुरुषार्थ को सर्वथा अशक्त। इस प्रकार उन्होंने एक प्रकार से वदतो-व्याघात किया है पश्चिमी विद्वानों में यदि हम स्पाईनोज़ा को लें तो बर्टण्ड रसल के शब्दों में उनका मत सर्वथा नियतिवादी है, "यह केवल अज्ञान का परिणाम है कि हम ऐसा सोचते हैं कि हम अपने भविष्य को बदल सकते हैं। जो होना है, वह अवश्य होगा और हमारा भविष्य हमारे भूत द्वारा इतना निश्चित है कि हम उसमें परिवर्तन नहीं कर सकते। इसीलिए आशा और भय दोनों व्यर्थ हैं। ये दोनों इस दृष्टि पर आधारित है कि हमारा भविष्य अनिश्चित है अतः दोनों अज्ञान से प्रादुर्भूत होते हैं।"[१] एक पश्चिम के दूसरे विद्वान् प्रिंगल पैटीसन नियतिवाद के खतरों को दिखलाते हुए कहते हैं कि कोई व्यक्ति "सचमुच अपने आपको क्रमशः उत्तरदायित्व से यह दिखलाने का प्रयत्न करते हुए कि किसी भी व्यक्ति के लिए, जिसका भूतकाल ऐसा रहा हो, जैसा उसका है, अन्यथा कार्य करने का मार्ग नहीं था, अपने आपको उत्तरदायित्व से मुक्त करने का प्रयत्न कर सकता है"।[२] क्योंकि नियतिवाद का ऐसा स्वच्छन्दाचारपरक अर्थ हो सकता है और इतिहास में सचमुच इस प्रकार की व्याख्या की गई है, इसलिए नियतिवाद के कट्टर विरोधियों की भी संख्या कम नहीं है। उनमें एक बटलर हैं, जिन्होंने नियतिवाद को अत्यन्त निन्दनीय शब्दों में गर्हित किया है।[3]

१. Bertrand Russel, *History of Western Philosophy*, London, 1948, पृ० ५६७.

२. Pattison, Pringle, *The Philosophical Radicals*, Edn., 1907, पृ० १०१।

३. Gladstone W.E., *Studies subsidiary to Butler's Works*, Oxford, 1896, पृ० २८६.

दूसरी ओर कुछ काण्ट जैसे विद्वान् हैं जिन्होंने हमारे सामने इस समस्या को निष्पक्ष भाव से रखा । उनका कहना है कि एक ऐसे बौद्धिक प्राणी के रूप में जो अपने मार्ग को स्वयं प्रशस्त करता है मनुष्य यह चाहता है कि उसे कर्म की स्वतन्त्रता हो, किन्तु साथ ही साथ उसे यह भी लगता है कि वह अपने भूतकाल से बन्धा हुआ है और वह यह नहीं समझ पाता कि इन दो परस्पर विरोधी तथ्यों में कैसे समन्वय स्थापित करे ।[१] डा० ग्रीन ने इस सम्बन्ध में उस तथ्य की ओर हमारा ध्यान दिलाया है जिसका संकेत हमने ऊपर भी किया । वे कहते हैं, "यदि मैं आज वह बन सकता हूँ जिसके लिये मुझे इसकी अपेक्षा न करनी पड़े कि मैं कल क्या था, या जो कुछ मैं आज हूँ, उसकी अपेक्षा किये बिना, यदि कल मैं कुछ बन सकूँ तो आत्मसुधार के लिए जितने प्रयत्न और प्रायश्चित्त किए जाते हैं, और जिनका फल भी हमें मिलता है, और प्रयत्न द्वारा एक आदत बनाकर जो हम सफलता प्राप्त करते हैं, और एक उज्ज्वल भविष्य की आशा जो हमें सप्राण बनाती है,—ये सब समान रूप से असम्भव हो जाएंगे ।"[२] भाव यह है कि हम वर्तमान में जो कुछ करते हैं, वह एक उज्ज्वल भविष्य की आशा को लेकर करते हैं और यदि हमें यह विश्वास न दिलाया जाय, कि हम अपने वर्तमान कर्म द्वारा भविष्य को सुधार सकते हैं तो हम वर्तमान में शिथिल हो जाएंगे, हममें कोई कार्य करने का उत्साह न रहेगा । किन्तु इसके विपरीत यदि हम यह मानते हैं कि भूतकाल ने हमें इतना जकड़ दिया है कि हम वर्तमान में अपनी इच्छा-शक्ति के स्वातन्त्र्य का कोई प्रयोग कर ही नहीं सकते, तो इसका यह अर्थ होगा कि भूतकाल का भूत ही हमारे वर्तमान को निगल जाएगा । इसलिए डब्लू० जेम्स नामक विद्वान् का कहना है कि यदि भूतकाल के भय से, भूतकाल में जो कुछ हमने किया है उसके भार से हमें मुक्ति पानी है, तो हमें यह मानना होगा कि हम अपने वर्तमान द्वारा भूतकाल के प्रभावों को परिवर्तित भी कर सकते हैं, निस्सत्त्व भी कर सकते हैं ।[3]

हमने ऊपर कुछ पश्चिमी विद्वानों का उल्लेख किया, यह उचित होगा कि भारतवर्ष में इस सम्बन्ध में कैसी-कैसी विचारधारा रही हैं, इस पर भी विचार

१. Hastings James, *Encyclopedia of Religion and Ethics*, Vol. VI, पृ० १२४.
२. Green, T.H., *Prolegomena to Ethics*, Oxford, 1899, पृ० १२६.
३. James, W., *Pragmatism*, New York, 1948, पृ० १२१.

करें। महावीर और बुद्ध के समय में एक मक्खली गोसाल या मस्करिन गोसाल नाम के दार्शनिक हुए जो सर्वथा नियतिवादी थे। उनका कहना था कि कुछ अनिवार्य जन्म लेने के अनन्तर प्राणी दुखों से स्वतः छूट जाता है। पाप और पुण्य का कोई फल नहीं है। पाप और पुण्य का बन्ध और मोक्ष से कोई सम्बन्ध नहीं है।[१] किन्तु इस सम्बन्ध में मस्करिन गोसाल के एक विचित्र मत पर ध्यान देना चाहिए। मस्करिन गोसाल नियतिवादी तो थे पर नीतिवाद के विरोधी नहीं थे। उनका यह कहना था कि यद्यपि पुण्य कर्म हमें मोक्ष के निकट लाते तो नहीं किन्तु जब हम मोक्ष के निकट आने को होते हैं तो हमसे स्वतः पुण्य कर्म होने लग जाते हैं। भाव यह है कि पुण्य कर्म हमारे मोक्ष के कारण नहीं हैं, संकेत हैं। वे हमारे मोक्ष को लाते नहीं, बतलाते हैं। वे एक प्रकार से सड़क पर लगे हुए मील के पत्थर हैं। वे हमें सड़क पर खींच कर आगे नहीं बढ़ाते किन्तु इतना अवश्य बतलाते हैं कि हम कितना आगे बढ़ आए हैं।[२]

मक्खली गोसाल ने एक अद्भुत प्रकार से नियतिवाद का समर्थन भी किया, और धर्म का खण्डन भी नहीं किया। इतिहास इस बात का साक्षी है कि मक्खली गोसाल स्वयं अपने जीवन में पूर्ण सदाचारी थे। किन्तु महावीर के एक दूसरे समकालिक दार्शनिक पुराणकाश्यप या पूरणकाश्यप हुए। उनका कहना है कि जो व्यक्ति हिंसा करता है, चोरी करता है, घर में सेंध लगाता है, डाका डालता है, या लूटता है, या दिन दहाड़े लूट-खसोट करता है, या व्यभिचार करता है, या असत्य बोलता है, उसे कोई पाप नहीं होता। उदारता में, आत्मनियन्त्रण में, इन्द्रियजय में और सत्यवादिता में न कोई पुण्य है, न पुण्य की कोई वृद्धि है।[3]

इस प्रकार के दार्शनिक महावीर और बुद्ध के लिये एक समस्या थे। ये दोनों दार्शनिक भी अपने आपको सर्वज्ञ और तीर्थंकर मानते थे। गोसाल के अनुयायी सद्दालपुत्र का महावीर के साथ एक संवाद भी हुआ जिसका उल्लेख उपासक दशांगसूत्र में है। स्वयं गोसाल छः वर्ष तक महावीर के अनुयायी रहे। एक देवता महावीर के एक अनुयायी कुण्डकौलिक के पास आए और गोसाल के नियतिवाद की प्रशंसा करने लगे। कुण्डकौलिक ने उनसे पूछा—"तुम्हें यह देवपद पुरुषार्थ से प्राप्त हुआ है या बिना पुरुषार्थ के। यदि पुरुषार्थ से प्राप्त

१. दीघनिकाय, भाग १, बम्बई, १९४२. १.२.२०.
२. Zimmer, H., *Philosophies of India*, पृ० २६७-२६८.
३. दीघ निकाय, १.२.

हुआ है, तो फिर तुम पुरुषार्थ की निन्दा क्यों करते हो ? क्योंकि पुरुषार्थ से तो तुम्हें देवपद प्राप्त हुआ है। और यदि यह पद तुम्हें बिना पुरुषार्थ ही प्राप्त हो गया तो यह तुम्हें ही क्यों प्राप्त हुआ, किसी दूसरे को क्यों नहीं हो गया ?"

हमने ऊपर कहा कि गोसाल के अनुयायी सद्दालपुत्र के साथ भी महावीर की चर्चा हुई थी। महावीर ने सद्दालपुत्र से पूछा, "हे सद्दालपुत्र, यह जो घड़े तुम बना रहे हो, ये पुरुषार्थ और पराक्रम से बनते हैं या बिना हाथ पैर हिलाये, बिना पुरुषार्थ और परिश्रम के।" सद्दालपुत्र ने कहा—"हाथ पैर हिलाना जैसी कोई चीज ही नहीं है, न परिश्रम ही होता है। सब पदार्थ नियत हैं।" महावीर ने कहा, "हे सद्दालपुत्र, यदि कोई व्यक्ति तुम्हारे घड़ों को जो कच्चे या पक्के हैं, चुरा ले, चूर-चूर कर दे, तोड़ डाले, छिन्न-भिन्न कर दे, बिखेर दे, या तुम्हारी पत्नी अग्निमित्रा के साथ अनन्त भोगों को भोगता हुआ प्रसन्नता का जीवन बिताये, तो उस पुरुष को तुम क्या दण्ड दोगे।" सद्दालपुत्र बोला—"हे भदन्त, मैं उस पुरुष को या तो कोसूँगा या मार दूँगा या बाँधूँगा या मथ डालूंगा या डांटूंगा या मारूँगा या पीस डालूंगा या उसकी निन्दा करूंगा या अकाल में ही उसके प्राण हरण कर लूंगा।" महावीर ने कहा—"यदि कोई पुरुष तुम्हारे घड़ों को तितर-बितर कर देता है, या अग्नि-मित्रा के साथ विहार करता है तो तुम उस पुरुष को कोसोगे, यहाँ तक कि मार भी दोगे, तो तुम जो कहते हो, हाथ पैर हिलाना कोई चीज नहीं है, सब पदार्थ नियत हैं, यह मिथ्या है।"

बौद्धों के ग्रन्थ दीघ निकाय में गोसाल का मत इन शब्दों में दिया है—आत्मपुरुषार्थ कुछ नहीं होता, परोपकार कुछ नहीं होता, पुरुषार्थ कुछ नहीं होता, बल कुछ नहीं होता, शक्ति कुछ नहीं है, व्यक्ति का हाथ पैर हिलाना और पराक्रम कुछ नहीं है। भगवतीसूत्र में गोसाल का यह मत दिया है कि ८४ लाख कल्पों में घूमता हुआ जीव स्वयं ही मोक्ष प्राप्त कर लेता है। हमने ऊपर इस प्रकार की सम्मति के विरुद्ध महावीर की प्रतिक्रिया दी, महात्मा बुद्ध की भी ऐसी ही प्रतिक्रिया थी। गोसाल का खण्डन करते हुए महात्मा बुद्ध कहते हैं—व्यक्ति में वीर्य है, और जन्म मरण के चक्कर से छुड़ा देने वाले सफल उत्साह की उसमें पूर्ण सम्भावना है, बशर्त है कि वह इस लक्ष्य के लिये पूरे दिल से संघर्ष करे।[1] सूत्रकृतांग में नियतिवाद के सम्बन्ध में यह कहा

१. Zimmer H., *Philosophies of India*, पृ० २२६।

गया है कि ये लोग यह मानते हैं कि सुख और दुख स्वयं व्यक्ति के पैदा किये हुए नहीं हैं फिर काल इत्यादि के तो पैदा किये हुए हो ही कैसे सकते हैं। सुख और दुख मोक्ष और लौकिक सुख-दुख स्वयं व्यक्ति के उत्पन्न किये हुए नहीं हैं, दूसरों द्वारा ही उत्पन्न किये जाते हैं। किन्तु व्यक्ति वही भोगता है, जो उसके भाग्य में बदा होता है। इस दृष्टि का खण्डन करते हुए सूत्रकृतांग कहता है कि जिनकी यह राय है, वे मूर्ख हैं किन्तु वे अपने आपको पण्डित समझते हैं। उन्हें समझ नहीं है। वे यह नहीं जानते कि कोई भी चीज अंशतः भाग्य और अंशतः पुरुषार्थ पर निर्भर करती है।[1]

ऊपर जो हमने बहुत से उद्धरण दिये, उससे यह स्पष्ट हो जाएगा कि भारतीय दर्शनों में भी नियतिवाद और पुरुषार्थ के प्रश्न की पाश्चात्य दर्शनों से कुछ कम चर्चा नहीं हुई है। वस्तुस्थिति यह है कि भारत में नियतिवाद के समर्थन का और भी अधिक पुष्ट प्रमाण था—कर्मवाद जो कि पाश्चात्य दर्शनों में नहीं था। भारतीय दर्शनों में भी बौद्ध दर्शन और जैन दर्शन जो कर्मवाद के सबसे कट्टर समर्थक थे, उनके सामने नियतिवाद का प्रश्न और भी अधिक भयंकर रूप में था। किन्तु इस प्रश्न का उत्तर भी जितना सुन्दर जैन दर्शन दे सकता था, उतना सुन्दर कोई दूसरा दर्शन नहीं दे सकता था। उसका कारण था, जैन दर्शन की अनैकांतिक दृष्टि, जिस दृष्टि के कारण दो परस्पर विरोधी लगने वाले तथ्यों में भी समन्वय और सामंजस्य पूर्णतः तर्कसंगत पद्धति से किया जा सकता था। यहाँ पर यह भी उल्लेखनीय है कि भारतवर्ष में नियतिवाद का वह रूप कभी नहीं रहा जिसमें अन्ध भाग्य पर भरोसा किया जाता है। अमरकोष में नियति के जहां बहुत से पर्यायवाची शब्द दिये गये हैं, वहाँ नियति का एक पर्यायवाची शब्द विधि भी है।[2] विधि का अर्थ है विधान, नियम।[3] अर्थात् नियति कोई घुणाक्षर न्याय से चलने वाली यदृच्छा नहीं है, प्रत्युत कारण-कार्य सिद्धान्त पर आधारित है। चरकसंहिता में स्पष्ट कहा है कि अपना ही पूर्वजन्म में किया हुआ कर्म भाग्य कहलाता है। यहां प्रसंगतः यह भी उल्लेख कर देना आवश्यक है कि भाग्य का पर्यायवाची दिष्ट शब्द भी है और पाणिनि के अनुसार जो दिष्ट को नहीं मानता, वह नास्तिक है। पाणिनि की इस परिभाषा के अनुसार जैन धर्म और बौद्ध धर्म भी सर्वथा आस्तिक दर्शन

१. सूत्रकृताङ्ग १.१.२.२-३.
२. अमरकोश, १.४.२८.
३. विधिर्विधाने दैवेऽपि—अमरकोश ३.३.१००.

मानने होंगे, यद्यपि साधारणतः उनकी गणना नास्तिक दर्शनों में की जाती है। इसका आधार सम्भवतः यह रहा होगा कि मनुस्मृति में कहा गया है कि जो वेद की निन्दा करता है, वह नास्तिक है।[1] जैन और बौद्ध दोनों ही वेद को स्वतःप्रमाण नहीं मानते।

अस्तु, हम प्रकृत का अनुसरण करें। जैन धर्म में जैसाकि हमने ऊपर कहा, भाग्य और पुरुषार्थ के समन्वय की कल्पना की गई है। जैसाकि हमने पहले भी कहा इसके अतिरिक्त और कोई दूसरा इस समस्या को सुलझाने के लिये चारा भी नहीं है। इसीलिये जैन दर्शन में पुरुषार्थ के साथ-साथ नियति की भी चर्चा है। द्वादशानुप्रेक्षा में यह कहा गया है कि जिसका जिस देश में और जिस समय जिन भगवान ने जन्म या मरण जाना है, उसका उस देश में और उस प्रकार से उस काल में जन्म या मरण रोकने में कौन इन्द्र या स्वयं जिनेन्द्र भी समर्थ है ?[2] अष्टसाहस्री में कहा गया है कि उसी प्रकार की बुद्धि उद्योग और सहायक हो जाते हैं जिस प्रकार की भवितव्यता होती है।[3] पद्मपुराण में कहा है कि जब जिसे जहां जितना और जिससे प्राप्त करना होता है, तब वह वहां उतना उससे ही प्राप्त करता है।[4] यह वाक्य कुछ इस प्रकार के हैं जिनसे ऐसा लगता है कि मानो भाग्य ही सब कुछ है। किन्तु यह वस्तु-स्थिति का केवल एक पक्ष है।

१. नास्तिको वेदनिन्दकः—मनुस्मृति २.११.

२. जं जस्स जम्मि देशे जेण विहाणेण जम्मि कालम्मि
णादं जिणेण णियदं जम्मं वा अइब मरणं वा।
तं तस्स तस्मि देसे तेण विहाणेण तस्मि कालम्मि
को सक्कदि वारेयुं इंदो वा अह जिणिंदो वा॥
—कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा, आगास, १९६०, पृ० ३२१-२२.

३. तादृशा जायते बुद्धिर्व्यवसायश्च तादृशः।
सहायास्तादृशाः सन्ति यादृशी भवितव्यता॥
—विद्यानन्दी सूरि, आप्तमीमांसा, राजनगर, वि० स० १९९३, पृ० ५ पर उद्धृत।

४. यत्प्राप्तव्यं यदा येन यत्र यावद्यतोऽपि वा
तत्प्राप्यते तदा तेन तत्र तावत्सतो ध्रुवम्॥
—पद्मपुराण, काशी, १९५९, २९-८३.

# पुरुष : अपना भाग्यनिर्माता

जैन धर्म का यह वास्तविक सन्देश नहीं है कि भाग्य ही सब कुछ है। उसका वास्तविक सन्देश यह है कि मनुष्य अपने भाग्य का स्वयं निर्माता है और निर्माता हमेशा अपनी कृति से बड़ा होता है अतः वह अपने भाग्य को बदल भी सकता है। जैन धर्म का वास्तविक सन्देश व्यक्ति की स्वतन्त्रता है। समय का प्रभाव, प्रकृति, परिस्थिति, पूर्वकर्म, जन्म—ये सब गौण हैं, व्यक्ति प्रधान है। जो व्यक्ति अपनी आन्तरिक शक्ति पर विश्वास खो देता है, उसे ये बाह्य परिस्थितियाँ दबोच लेती हैं। जिस प्रकार मकड़ी अपने पैदा किये हुए जाले में स्वयं ही फंस जाती है, उसी प्रकार व्यक्ति अपनी ही पैदा की हुई परिस्थितियों में स्वयं फंस जाता है और जिस प्रकार वह मकड़ी अपने फैलाये हुए जाल को स्वयं ही समेट सकती है, उसी प्रकार व्यक्ति भी अपनी फैलायी हुई परिस्थितियों का स्वयं ही अन्त कर सकता है। यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि हमें परिस्थिति से व्यक्ति की मुक्ति का प्रश्न सोचना है। परिस्थितियों के परिवर्तन करने के प्रश्न पर विचार नहीं करना है। हमें एक विशेष प्रकार की परिस्थितियां मिली हैं और हम यह समझते हैं कि यदि हमारी ये परिस्थितियां बदल कर अमुक प्रकार की हो जाएँ तो हमें सुख हो सकता है। हम सदा परिस्थितियों में परिवर्तन की बात सोचते हैं, उनसे छुटकारे की बात नहीं सोचते। और जब हम एक विशेष प्रकार की परिस्थिति को भाग्यवश या अपने पुरुषार्थ से दूर करके एक नयी परिस्थिति पैदा कर लेते हैं तब हमें यह लगता है कि यह वर्तमान परिस्थिति भी हमें उसी प्रकार उन्मुक्त नहीं होने दे रही, जिस प्रकार पहली परिस्थितियाँ हमें नहीं छोड़ रहीं थीं। और तब हमें यह लगता है कि हमने गलती की, हमें ये परिस्थितियां नहीं अमुक परिस्थितियां उत्पन्न करनी चाहिएँ और जब वे अभीष्ट परिस्थितियां उत्पन्न हो जाती हैं, तब हम समझते हैं कि हमने फिर गलती की। और इस

एक प्रकार की परिस्थिति से अपने आप को छुड़ाकर दूसरे प्रकार की परिस्थितियों से अपने आपको बाँधे चले जाते हैं। कभी यह नहीं सोचते कि क्या इन परिस्थितियों से—सब प्रकार की परिस्थितियों से—तथाकथित अनिष्ट परिस्थितियों से भी, और इष्ट परिस्थितियों से भी—हमें एक बार के लिये पूर्णतः मुक्त हो जाना है। जब तक हम परिस्थिति के दास हैं, तब तक स्वतन्त्रता कैसी ? किन्तु जिस क्षण हम परिस्थिति की अनुकूलता और प्रतिकूलता पर दृष्टि देना छोड़कर परिस्थिति मात्र से अपने आपको मुक्त करके आत्मनिष्ठ होना चाहेंगे, उस क्षण कौन-सी परिस्थिति ऐसी है, कौनसा भाग्य ऐसा है, जो हमारे मार्ग में बाधा बनकर खड़ा हो सकता है? हम फिर उन्हीं शब्दों को दुहराते हुए जिन्हें हमने पहले उद्धृत किया था, एक भिन्न प्रकार से इस रूप में कहना चाहेंगे कि प्रश्न यह नहीं है कि हमारी जंजीरें लोहे की हों या सोने की, प्रश्न यह है कि हमें जंजीरों को तोड़ना है। जंजीरों से बँधा हुआ पशु, पिंजड़े में बंद तोता पिंजड़े को अपना बन्धन नहीं संरक्षक समझ ले, तो उसे मुक्त कौन कराये ? उन्मुक्त गगन में स्वतन्त्र विचरण करने वाले तोतों को क्या आपने नहीं देखा? थोड़े दिनों पिंजड़े में बंद रह चुकने के बाद यदि पिंजड़े का दरवाजा खोलकर उन्हें पिंजड़े से बाहर भी निकाल दिया जाय, तो वे अपनी स्वेच्छा से दोबारा पिंजड़े में ही घुस जाते हैं। उन्हें पिंजड़ा बन्धन नहीं नजर आता, अपनी सुरक्षा नजर आती है। उसमें उन्हें थोड़े से अन्न के दाने और पानी मिल जाता है। उन्हें यह आभास ही नहीं है कि उन्मुक्त गगन में बाग की एक शाखा से दूसरी शाखा तक फुदकते हुए उन्हें मधुर फल तो मिलेंगे ही, स्वतन्त्रता भी प्राप्त होगी। कबूतरों को देखिए। आकाश का पंछी है। उनका स्वामी उनको आकाश में उड़ा भी देता है। पर अपने दड़बे में बन्द होने के लिए स्वयं चले आते हैं। यह सब क्या है ? यह सब इसका सुन्दर उदाहरण हैं कि किस प्रकार परिस्थिति जो हमारी लाचारी होती है, जो हमारा बन्धन होता है, और जो हमारे लिए भार है, हम उसे ही अपनी सुरक्षा मान बैठते हैं, स्वेच्छा मान बैठते हैं, उसके लिये तरसते हैं और हमें इस कल्पना में भी भय लगता है कि यदि इन परिस्थितियों से हम उन्मुक्त हो गये तो न जाने क्या होगा ? हमारा भविष्य असुरक्षित हो जाएगा। वस्तुस्थिति यह है कि आज जो भी बन्धन हैं, उन्हें मैंने स्वयं जन्म दिया है। उन्हें किसी ने मुझ पर थोपा नहीं, और मैं यह कह रहा हूँ कि मैं तो बंधा हुआ हूँ, मैं कर ही क्या सकता हूँ, मेरा भाग्य ही ऐसा है। हमें कोई बांधने वाला नहीं है। हमने अपने आपको स्वयं बांधा है।

यह भाग्य का प्रश्न कहाँ आता है? यह प्रश्न वहाँ नहीं आता जहाँ मुझे परिस्थितियों से मुक्त होना है। यह प्रश्न तो वहाँ आता है जहाँ मैं एक परिस्थिति को बदल कर दूसरी परिस्थिति उत्पन्न करना चाहता हूँ। किन्तु क्या वह दूसरी परिस्थिति भी मेरे लिये उतना ही बड़ा बन्धन नहीं हो जाती? यदि परिस्थितियों को तोड़ना है तो फिर भाग्य की प्रतीक्षा कैसी? उन्हें आज भी तोड़ना है, कल भी तोड़ना है; वे अनुकूल हों तो भी तोड़ना है; वे प्रतिकूल हों, तो भी तोड़ना है। क्योंकि परिस्थितियाँ अन्ततोगत्वा हैं तो बाह्यभूत तथ्य। मेरा अपना स्वरूप तो वे नहीं है न? अपने स्वरूप तक पहुँचे बिना स्थिरता कहाँ? शाँति कहाँ? संघर्ष की समाप्ति कहाँ? कृतकृत्यता कहाँ? पूर्णता कहाँ?

कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा कि हममें दो प्रकार की चेतनायें हैं—एक ज्ञान-चेतना, एक कर्म-चेतना। ज्ञान-चेतना में ज्ञान है, ज्ञाता है और ज्ञेय है। वहाँ कर्तृत्व नहीं है। परन्तु कर्म-चेतना में कर्ता है, कर्म है और कर्मफल है। वहाँ हम अछूते नहीं रह सकते। हमें देखना है कि हम कौन सी चेतना में हैं। यदि हममें कर्तृत्व भावना नि:शेष हो गई, यदि हम ज्ञान भावना में परिनिष्ठित हैं, तो फिर नियतिवाद हमारे किस कार्य में बाधा डालेगा? क्या हमारे ज्ञान में बाधा डालेगा? क्या हमारे सुख में बाधा डालेगा? वे तो हमारे स्वाभाविक गुण हैं, त्रिकालवर्ती हैं। संसार की कोई शक्ति हमें उनसे पृथक् नहीं कर सकती। हमारे भाग्य ने हमारे ज्ञान और सुख को हमारी सहज स्वाभाविक शक्ति को हमें दिया भी नहीं था और हमारा भाग्य उन्हें हमसे छीन भी नहीं सकता। ज्ञान चेतना में परिनिष्ठित साधक के लिये सारे द्वार खुले हुए हैं। सारा संसार, सारा लोकालोक उसके लिए ज्ञेय है, और उन ज्ञेयों की ज्ञेयता को उसकी नियति नहीं छीन सकती, नहीं मिटा सकती और स्वयं ज्ञाता है और उसके ज्ञातृत्व को उसकी नियति उससे नहीं छीन सकती। उस आत्मस्वरूप में तल्लीन व्यक्ति के लिये नियतिवाद ने उसके ज्ञातृत्व और द्रष्टृत्व भाव में सहायता पहुँचाई है। यह जानकर कि संसार के समस्त पदार्थों की गति नियत है, वे अपने-अपने द्वारा निर्मित अपने-अपने मार्ग पर चलने में स्वतन्त्र हैं, उसकी अहं बुद्धि, उसकी कर्तृत्व बुद्धि, शाँत हो गई है। उसे अब किसी पदार्थ में, किसी परिस्थिति में कुछ करना नहीं, केवल उन्हें जानना है। उसके लिये अच्छे और बुरे का कोई अर्थ नहीं रह गया क्योंकि ज्ञान में आने पर कोई पदार्थ अच्छा या बुरा नहीं रहता। अच्छा या बुरा उस पदार्थ को मेरी कर्तृत्व बुद्धि बनाती है, मेरा ममत्व बनाता है, मेरा अहंभाव बनाता है। जहाँ कर्तृत्व नहीं

जहाँ ममत्व नहीं, जहाँ अहंभाव नहीं, वहाँ आत्मा केवल एक निर्मल दर्पण है जिसकी निर्मलता को, जिसके प्रसाद को, न गन्दे पदार्थ का प्रतिबिम्ब मलिन करता है, और न निर्मल पदार्थ का प्रतिबिम्ब निर्मल बनाता है।

जो कर्म चेतना की स्थिति में है, उसकी बात ही दूसरी है। वस्तुतः अभी उसने अपना लक्ष्य या पहचाना नहीं है या पहचान कर भुला दिया है। उसमें अहं है, उसमें कर्तृत्व है। वह अभी पाप और पुण्य के द्वैत से ऊपर नहीं उठ सकता। उसे अभी चुनाव करना है। उसकी ममता, उसका अहं, उसे अच्छे और बुरे का विवेक देता है। उसके लिये कुछ पदार्थ अनुकूल हैं, कुछ प्रतिकूल हैं और जब प्रतिकूल पदार्थ उसके अनुकूल नहीं हो पाते तो वह इस ज्ञान चेतना से नहीं सोचता कि वह क्यों इन प्रतिकूल पदार्थों को प्रतिकूल मानता है और क्यों उन्हें अपने अनुकूल बनाना चाहता है ? वह यह नहीं समझ पाता कि ये अनुकूल पदार्थ भी अन्ततः उसके लिए बन्धन हैं, उसे इनसे ऊपर उठना है। किन्तु हम ऐसे व्यक्ति की उपेक्षा नहीं कर सकते। धर्म सबके लिए है, केवल कुछ गिने चुने लोगों के लिये नहीं है। ऐसा व्यक्ति परिस्थितियों का दास है। उसे उसकी परिस्थितियाँ जिधर चाहती हैं, उधर धकेलती हैं। किन्तु फिर भी वह अपने पुरुषार्थ से, अपने दृढ़ संकल्प से उन परिस्थितियों को दिशा दे सकता है। उन्हें बदल सकता है। और यदि वह इतना दृढ़ हो जाये कि परिस्थितियाँ पूरी ताकत लगाकर भी उसे तोड़ भले ही डालें, पर झुका न सकें, तो एक दिन विपरीत से विपरीत और कठिन से कठिन परिस्थितियों पर भी वह विजय पा सकता है, उनका स्वामी बन सकता है। यहाँ नियतिवाद हार जाता है और व्यक्ति का पुरुषार्थ जयी होता है। यह मार्ग साधकों का मार्ग है। साधक ने अन्ततोगत्वा दोनों प्रकार की परिस्थितियों पर विजय पानी है, प्रतिकूल भी और अनुकूल भी। उसे दोनों प्रकार के भावों से अपने को मुक्त करना है, अनुकूल के प्रलोभन से और प्रतिकूल के भय से। किन्तु जब तक वह यह नहीं कर पाता, इतना तो वह कर ही सकता है कि कैसी भी परिस्थिति क्यों न हो, कम से कम उस मार्ग को अपनाने से इन्कार कर दे जिस मार्ग के अपनाने से वह यह जानता है कि प्रतिकूल परिस्थितियाँ समाप्त नहीं हो जातीं, प्रत्युत और भी अधिक घनीभूत हो जाती हैं। यह व्यवहार-मार्ग है, पुण्य का मार्ग है। यह साक्षात् धर्म का मार्ग नहीं है, किन्तु धर्म के मार्ग का सहायक अवश्य बन सकता है। हमारे जीवन में जितना अधिक प्रलोभन पाप का है उतना पुण्य का नहीं है। जो पाप के प्रलोभन

को तोड़ डालता है, वह एक दिन पुण्य के प्रलोभन को भी तोड़ सकता है। हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं कि पुण्य साधन हैं और इस लोक के सुख तथा परलोक के सुख साध्य हैं। इसीलिये हमने यहाँ यह कहा कि पुण्यों का भी अपना प्रलोभन है। किन्तु पुण्य से जो फल प्राप्त होता है, उसके लिये प्रतीक्षा करनी होती है और जिसकी गरज पागल होती है, वह प्रतीक्षा नहीं कर सकता। उसे यह लगता है कि पाप का मार्ग छोटा रास्ता है। उससे अभी और तुरन्त फल प्राप्त किया जा सकता है। अतः जहाँ वासना जितनी अधिक पागल है, वहाँ सुख को प्राप्त करने की इच्छा पाप के द्वारा उतनी ही प्रबल है और ज्यों-ज्यों यह वासना क्षीण होती है, स्थूल इच्छाएँ हमारा पीछा छोड़ देती हैं। किन्तु उनका स्थान सूक्ष्म इच्छाएँ ले लेती हैं और उन सूक्ष्म इच्छाओं की पूर्ति हम पुण्य के मार्ग से करने में लग जाते हैं। इस मार्ग में वासना से छुटकारा नहीं है, परिस्थितियों की दासता से छुटकारा नहीं है स्वतन्त्रता नहीं है; किन्तु वासना का हलकापन अवश्य है, परिस्थितियों से ऊपर उठकर व्यक्ति को खुली हवा में सांस लेने का अवकाश अवश्य मिल जाता है। चाहे वह स्वतन्त्रता प्राप्त न कर सके, उसे स्वतन्त्रता के दर्शन अवश्य हो जाते हैं, आभास अवश्य हो जाता है। यही हल्का-सा आभास अन्त में स्वतन्त्रता की प्राप्ति का कारण बनता है, ऐसी स्वतन्त्रता जहाँ केवल वह ज्ञान-चेतना रह जाती है जिसका उल्लेख हमने ऊपर ही किया है।

हमारा भाग्य और भविष्य चाहे निश्चित भी है, पर क्या उसे हम जानते हैं ? और तब हमारे पास अतिरिक्त इसके और चारा भी क्या है कि हम पुरुषार्थ करें, क्योंकि हमारे आधीन तो वही है। और यदि हम पुरुषार्थ नहीं करना चाहते, तो अपने आपको बाहर की भाग-दौड़ से खींच कर यह आन्तरिक पुरुषार्थ करें कि अपने आपको अपने स्वतन्त्र-स्वरूप में लगा दें।

हर कार्य में दो कारण रहते हैं उपादान कारण और निमित्त कारण। काल, स्वभाव, नियति, परिस्थितियाँ, जन्मजात गुण या दोष—ये सब निमित्त हैं। उपादान तो व्यक्ति का स्वयं का पुरुषार्थ है। जिस प्रकार बाहर के अन्य निमित्त मेरे पुरुषार्थ के करने पर तदनुकूल सहायता तो दे सकते हैं, किन्तु मेरे पुरुषार्थ के बिना निष्क्रिय रहते हैं, उसी प्रकार मैं अपने से दृष्टि हटा कर किसी अन्य को केन्द्र बनाकर देखूँ तो उसकी अपनी दृष्टि तो वही उपादान कारण होगा, मैं तो केवल उसका निमित्त बन सकता हूँ। इस प्रकार सभी पदार्थ अपने-अपने उपादान और परपदार्थ के निमित्त कारण हैं। ऐसी

अवस्था में कर्तृत्ववाद का अभिमान कैसा ? अपने पुरुषार्थ में भाग्य का अवलम्बन कैसा ? भाग्य एक बाह्य तथ्य होने के नाते निमित्त हो सकता है, उपादान नहीं बन सकता। यदि उपादान का पुरुषार्थ एक विशेष दिशा में है और वह दिशा यदि स्वस्वभाव में निष्ठ होने की है तो भाग्य एक निष्क्रिय निमित्त मात्र बना रह जाता है। बाह्य परिस्थितियां कभी हमें अपने आप नहीं छोड़ती, हमें जब भी छुटकारा पाना होता है, उनसे स्वयं लड़ना पड़ता है। क्या हमने उन सिद्ध पुरुषों की जीवनियां नहीं देखीं जिनका सारा जीवन ज्ञान के आलोक से आलोकित हो चुका था, किन्तु जिनकी बाह्य परिस्थितियां, फिर भी उनके प्रतिकूल बनी रही। किन्तु क्या वे प्रतिकूल परिस्थितियाँ उनकी प्रगति को उनकी साधना को रोक सकीं ? लगता ऐसा है कि शायद इन प्रतिकूल परिस्थितियों ने उनकी साधना में बाधा नहीं दी बल्कि सहायता पहुँचाई। उन्होंने न केवल आने वाली प्रतिकूल परिस्थितियों का हंसकर स्वागत किया, प्रत्युत जानबूझ कर प्रतिकूल परिस्थितियों को आमन्त्रित भी किया। इस प्रकार प्रतिकूल परिस्थितियां उनके लिये एक खेल बन गईं जो उनके केवल मनोरंजन का ही साधन नहीं थीं, उनके मानसिक विकास के लिये एक प्रकार से अनिवार्य शर्तें भी थीं, क्योंकि व्यक्ति अपनी शक्ति की यदि परीक्षा करना चाहे, तो उसके लिये उसे प्रतिकूल परिस्थितियां मिलनी ही चाहिएँ और यदि एक स्तर विशेष तक की प्रतिकूल परिस्थितियों को वह जीत ले तो फिर उसकी शक्ति उससे आगे बढ़ी या नहीं, इसकी जांच करने के लिये तो उसे उससे भी अधिक प्रतिकूल परिस्थितियां चाहिएं ही, साथ ही साथ अपनी शक्ति को बढ़ाने का निरन्तर अभ्यास करने के लिए भी उसे निरन्तर प्रतिकूल परिस्थितियों को ललकार-ललकार कर आमन्त्रित करना होता है, और जीतना होता है। तप और कायक्लेश कोई मिथ्या भ्रम पर आधारित किन्हीं रुग्ण-मन वाले निराशावादी लोगों के हथियार नहीं हैं। ये उन लोगों के शस्त्र हैं जो मनुष्य के मनोविज्ञान को समझते हैं, जो यह समझते हैं कि मन कैसे मनुष्य को भुलावा देता है और किस प्रकार मनुष्य बिना प्रतिकूल परिस्थितियों में अपनी आत्मशक्ति का परीक्षण किये अपने आपको परिस्थितियों का स्वामी मान बैठता है किन्तु जब उसे अकस्मात् प्रतिकूल परिस्थितियों का सामना करना होता है, तो उसका यह आत्मविश्वास बालू की नींव पर खड़ा हुआ प्रमाणित होता है।

२१

# भौतिकवाद : यदृच्छावाद

एक दूसरा सम्प्रदाय है जिसे हम यदृच्छावाद कह सकते हैं, जिसे आधुनिक युग में आकस्मिकवाद भी कहा जाता है। मनुष्य का सारा चिन्तन इस मूल तथ्य पर आधारित है कि प्रत्येक कार्य का कोई कारण होता है। किन्तु यदृच्छावाद इस कार्यकारण के मूलसिद्धान्त पर ही कुठाराघात करता है। वह यह मानता है कि प्रत्येक कार्य आकस्मिक होता है, उसका कारण नहीं होता। यदि एक कार्य का एक कारण मान भी लें तो फिर उस कारण का एक दूसरा कारण मानना होगा और दूसरे कारण का तीसरा कारण। इस प्रकार अनवस्था हो जाएगी। इस परम्परा का कोई अन्त न होगा। अतः यह ठीक होगा कि हम इस परम्परा में जाकर कहीं और रुकने की अपेक्षा स्वयं कार्य पर ही रुक जाएँ और उसके कारण की खोज़ न करें।

यदृच्छावादियों की यह युक्ति वस्तुतः अधूरी है। वे भी यदृच्छावाद को ऐसे ही स्थान पर प्रयुक्त करते हैं जहां कारण या तो संदिग्ध होता है या परोक्ष होता है। क्योंकि ऐसे प्रत्यक्ष विषयों में जैसे कि भोजन खा लेने से भूख शान्त हो जाती है, कोई भी व्यक्ति यह नहीं मानेगा कि कारण-कार्य सम्बन्ध नहीं है। किन्तु हमारे जीवन की बहुत सी घटनाओं के कारण परोक्ष रहते हैं। हममें से किसी भी व्यक्ति के साथ सड़क पर चलते हुए दुर्घटना हो सकती है, अंगभंग हो सकता है और तब ऐसी जगह उसका कारण खोजना कठिन हो जाएगा। ऐसी घटनाओं को हम आकस्मिक कह डालते हैं। हमने पहले भी कहा कि एक ऐसी भी स्थिति आती है जहां कारण का खोजना कठिन हो जाता है। जब हम किसी पदार्थ के मौलिक स्वभाव का कारण ढूंढ़ना चाहते हैं तो हमें यह लगता है कि उसका कारण नहीं ढूंढा जा सकता। यहां आकर तर्क रुक जाता है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि संसार में कोई कारण-कार्य-परम्परा ही नहीं है। वस्तुतः समस्त विज्ञान और दर्शन उन स्थलों का जहां कार्य-कारण-परम्परा स्पष्ट नहीं है, उसे खोज निकालने का ही प्रयास है। दर्शन और विज्ञान ज्ञात से अज्ञात कारण को खोजना चाहते हैं। विज्ञान भौतिक जगत् में इस

कारण-कार्य परम्परा को खोजता है और दर्शन मनोजगत् में तथा आत्म-जगत् में।

यह ठीक है कि प्रत्येक कार्य का उपादान कारण ही प्रधान कारण होता है और हम साधारणतः निमित्त कारणों को आवश्यकता से अधिक महत्त्व दे देते हैं। यदृच्छावाद जहां तक हमें इस गलती से सावधान करता है, वहां तक वह ठीक है। किन्तु यदि यदृच्छावाद हमें यह सिखलाना चाहता है कि हम किसी कार्य के कारण की खोज ही न करें तो वह हमें पशु जगत् से ऊँचा नहीं उठा सकेगा। और यह सत्य है कि यदृच्छावाद को पूर्णतः मान लेने पर धर्म, दर्शन, और चिन्तन का तो अवकाश रह ही नहीं जाता, विज्ञान का भी उन्मूलन हो जाता है। पाश्चात्य दार्शनिकों में प्लैटो और अरस्तू आकस्मिकवाद की ओर झुके हुए थे किन्तु स्टोइक्स ने इस बात को महसूस किया कि विश्व में सब कार्यों का कोई न कोई कारण होता है।[१] ग्रीयर हिबेन ने कहा है कि आकस्मिकवाद उस समय का विचार है जिस समय मनुष्य अभी वैज्ञानिक ढंग से नहीं सोचता था।[२] आज भी हम देखते हैं कि आंशिक रूप से बहुत से लोग यदृच्छावाद के पक्षपाती हैं। वे लोग लौकिक क्षेत्र में तो हर कार्य का कारण मानते हैं किन्तु वे कर्म जैसे परोक्ष कारणों को मानने के लिये तैयार नहीं हैं। भारतवर्ष में कर्म सिद्धान्त इतना अधिक प्रतिष्ठित रहा कि किसी भी दर्शन ने इसे प्रमाणित करने के लिये कोई प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं समझी। इसलिए एक प्रकार से कर्म सिद्धान्त का वैज्ञानिक विवेचन भी नहीं हो सका। किन्तु इतना निश्चित है कि यह सिद्धान्त कारण और कार्य के वैज्ञानिक सिद्धान्त पर ही आधृत है और इस सिद्धान्त को माने बिना व्यक्ति यह अनुभव नहीं कर सकता कि संसार में उसके साथ न्याय हुआ है और यह अनुभूति आये बिना कि व्यक्ति के साथ जो कुछ हो रहा है वह न्यायसंगत है किसी व्यक्ति में वह आन्तरिक संतोष और शान्ति की भावना, जो उसकी उन्नति के लिये परमावश्यक है, नहीं आ सकती। आज कर्म सिद्धान्त पर से हमारा विश्वास हट गया तो हम यह मानने लगे कि संसार में जो कुछ मेरा दुर्भाग्य है, वह मेरी करनी का फल नहीं है, प्रत्युत एक आकस्मिक घटना है। उसे दूसरों ने पैदा कर दिया है। यह दूसरों का मेरे साथ अन्याय है। इससे असन्तोष पैदा हुआ, रचनात्मक दृष्टिकोण की जगह ध्वंसात्मक दृष्टिकोण प्रबल हो गया और जगह-जगह हिंसा फैली।

१. James, Hastings (ed.) *Encyclopaedia of Religion and Ethics*, New York, 1955, Vol. I, पृ० ६५.

२. वही, पृ० ६४.

इसके विपरीत कर्म सिद्धान्त का उन लोगों ने जो समाज में प्रतिष्ठित स्थान पाए हुए हैं, अनुचित उपयोग करना शुरू किया। समाज में फैली हुई विषमता उनके शोषण का परिणाम है किन्तु उन्होंने उस विषमता को प्रकृति की देन बतलाकर शोषित वर्ग को सुप्त रखना चाहा। परिणामतः साम्यवाद का जन्म हुआ। और शोषकों के साथ-साथ धर्म, जिसकी ठेकेदारी उन शोषकों ने ले ली थी, निन्दित हुआ। इस प्रकार धर्म को दुरुपयोग करने वाले व्यक्तियों का पाप धर्म को भी ले डूबा और बहुत जोर से यह विचारधारा पनपने लगी कि धर्म तो शोषितों के जागरण को रोकने के लिए दी जाने वाली एक मादक अफीम है। धर्म जो मनुष्य को युग-युग की नींद से जगाने के लिए है, निद्रा में सुला देने वाला माना जाने लगा। और आज हम जानते हैं कि संसार का एक बहुत बड़ा भाग जो बहुत सम्पन्न है, समृद्ध है और प्रबुद्ध भी है धर्म को सर्वथा छोड़ चुका है, वहाँ धर्म की चर्चा करना भी एक अपराध है।

हमें इन दोनों अतियों से बचना है—एक ओर तो अपने सब दोषों को दूसरे के सिर थोपना और दूसरी ओर दूसरों का शोषण करते हुए अपने दोषों को दूसरों के भाग्य के सिर पर थोपना है। हम पहले ही यह स्पष्ट कर चुके हैं कि जब हम कार्य-कारण सम्बन्ध को मानेंगे तो अंशतः हमें भाग्य को भी मानना होगा, नियति को भी मानना होगा और इसका यह अर्थ नहीं कि हम सर्वथा बँधे हुए हैं। हमें एक विशेष सीमा तक छूट भी है, स्वतन्त्रता भी है। फिर यदि शोषितों के दुखों को हम उनके पापों का फल बतलाकर अपने आप को शोषण के पाप से मुक्त करना चाहें तो साथ ही हमें यह भी तो सोचना होगा कि शोषण भी तो एक पाप है, शायद सबसे बड़ा पाप है क्योंकि शोषण करते समय हम अपने स्वरूप को भूल जाते हैं। हम यह भूल जाते हैं कि वह व्यक्ति जिसका हम शोषण करना चाहते हैं, वैसा ही है जैसा मैं स्वयं हूँ। और इसका यह परिणाम होता है कि हम स्वयं एक बड़े पाप के गर्त में पड़ जाते हैं। वस्तुस्थिति यह है कि जिस व्यक्ति को पाप करना है, उसके लिए वह कोई भी सिद्धान्त प्रयोग में ला सकता है, उसे तोड़ सकता है, मरोड़ सकता है। चाहे वह सिद्धान्त कर्म सिद्धान्त हो, चाहे धर्म हो, चाहे भाग्य, चाहे ईश्वर और इन सबका मानवता के आधार पर खण्डन करने वाला स्वयं साम्यवाद क्यों न हो।

साम्यवाद के सिद्धान्त में क्या कमजोरियाँ हैं? केवल एक वही कमज़ोरी है, जो उन सब सिद्धान्तों में थी जिन सिद्धान्तों का खण्डन करके साम्यवाद उभरा अर्थात् असहिष्णुता। कौन नहीं मानेगा कि सब मनुष्य—और जैन दर्शन तो कहेगा कि प्राणीमात्र—समान हैं। सबको अपनी-अपनी दिशा से उन्नति

करने का पूर्ण अवसर मिलना चाहिए, पूर्ण सुविधाएँ मिलनी चाहिएँ। और "जो अतिरिक्त अपनी दैनिक आवश्यकताओं के किसी और पदार्थ पर स्वत्व समझता है, वह चोर है, दण्ड का भागी है"—इसकी घोषणा हमारे यहाँ बहुत पहले से की गई। अपरिग्रह का मूल सिद्धान्त ही यह है कि हम अपनी आवश्यकताओं को कम से कम करें और उन कम से कम आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए जिन पदार्थों का हम उपयोग करते हैं, उनमें ममता न रखें। ईश्वरवादी भी इस समस्त जगत् को ईश्वर का मानकर ममत्व हटाने की शिक्षा देता है, हम जो कुछ करें खायें, पियें, सब ईश्वरार्पण बुद्धि से करें और उसमें ममत्व न रखें। किन्तु साम्यवाद का कहना है कि यह तो सिद्धान्त की बात है, व्यवहार में तो धर्मशास्त्र हमें शोषण से मुक्ति नहीं दिला सकते। किन्तु प्रश्न यह है कि यदि हमारे धर्म के सिद्धान्त हमें शोषण से मुक्त नहीं कर सके तो क्या साम्यवाद के सिद्धान्तों ने हमें व्यवहार में संघर्ष से मुक्त कर दिया? शान्ति दे दी? क्या साम्यवाद भी अपनी प्रतिष्ठा के लिए उन्हीं हथियारों का प्रयोग नहीं करता, जिनका अन्य सिद्धान्त करते हैं? फिर भी साम्यवाद का मूल सिद्धान्त कि सब समान हैं, जन्म से कोई छोटा बड़ा नहीं, व्यक्ति छोटा या बड़ा अपने पुरुषार्थ से होता है, बहुत सुन्दर सिद्धान्त है।

किन्तु इस सिद्धान्त की अपनी एक सीमा है। यह सिद्धान्त दृश्यमान जगत् के अतिरिक्त और किसी प्रकार की सत्ता स्वीकार नहीं करता। परलोक, पाप, पुण्य और पुनर्जन्म को व्यर्थ की कल्पनाएँ मानता है। इनके सामने जब त्याग की बात रखी जाती है और यह कहा जाता है कि संसार के सुख भोग भी दुख रूप ही हैं तो यह उसे यह कहकर टाल देता है कि यदि संसार में दुख है तो क्या इसलिए संसार के सुखों को भी छोड़ दिया जाय? हम यह पहले ही कह चुके हैं कि भौतिकवाद हमें वर्तमान में रहने की प्रेरणा देता है और इस दृष्टि से हमें व्यर्थ के अन्धविश्वासों से भी मुक्ति दिलाता है। हम यह भी देख चुके हैं कि कम से कम जैन दर्शन संसार को एक स्वप्न नहीं मानता, एक सत्य मानता है। किन्तु इसके साथ ही साथ यह भी मानना होगा कि केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण नहीं माना जा सकता, न यह ही कहा जा सकता है कि प्रत्यक्ष को प्रमाण मानकर जीवन की सब समस्याओं का समाधान हो सकता है। मनुष्य केवल रोटी पर जीवित नहीं रहता। उसकी आकांक्षाएँ केवल धन से तृप्त नहीं रहतीं, उसे प्यार भी चाहिए, उसे सद्‌भाव भी चाहिए।[1] मनुष्य एक यन्त्र नहीं है, जिसे एकता के नीरस ढांचे में ढाला जा सके। उसे विवि-

१. न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः
—कठोपनिषद् १.१.२७.

धता चाहिए और इस विविधता के लिए व्यक्ति को समाज के अनुचित नियंत्रण से मुक्ति चाहिए। फिर भी भौतिकवाद के और साम्यवाद के प्रादुर्भाव ने दार्शनिकों के लिए नये ढंग से सोचने की सामग्री दी है और पुराना चिन्तन जो सूक्ष्म से सूक्ष्मतम होते होते स्थूल से सर्वथा विच्छिन्न हो गया था, उसे फिर से स्थूल की ओर आने के लिये प्रेरणा दी है। और इस प्रकार साम्य-वाद और अध्यात्मवाद यदि सापेक्षता की शरण लें, यदि अहं को छोड़ें और मानवता के हित को, किसी सिद्धान्त की अपेक्षा, सर्वोपरि रखें तो एक ऐसी समन्वित संस्कृति का विकास सम्भव है जिसमें न तो स्थूल के पीछे सूक्ष्म की अस्वीकृति हो और न सूक्ष्म के पीछे स्थूल की उपेक्षा।

२२

# जाति, जन्म : पुरुषार्थ

श्वेताश्वतरोपनिषद् काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा और भूत के अतिरिक्त एक अन्य सिद्धान्त की भी चर्चा करती है और वह है योनि अर्थात् जन्म। हम जानते हैं कि हमने जिस घर में जन्म लिया उसका चुनाव हमने स्वयं नहीं किया। जो माता पिता, जो गृहस्थ, जो समाज, हमें मिला, वह हमारा जन्मजात है। उसमें हमारे चुनाव का कोई हाथ नहीं, और जन्म हमारे जीवन का प्रारम्भ है। और वह प्रारम्भ ही यदि विषमता से होता है, तो हम अपने जीवन के पुरुषार्थ से उस विषमता को कैसे मिटा सकते हैं ? इस प्रकार वस्तुतः हमारे जीवन की सफलता असफलता बहुत कुछ हमारे जन्म पर ही आधृत है।

इस विषय में जैन दृष्टि के सम्बन्ध में कुछ अधिक कहने की आवश्यकता नहीं। प्रथम तो यह कहना ही गलत है कि मेरे जन्म में मेरा अपना कोई हाथ नहीं। मेरा जन्म, मेरी परिस्थितियाँ उन सबमें मेरा पूरा हाथ है और केवल मेरा ही हाथ है। किसी और का नहीं। दूसरे व्यक्ति का पुरुषार्थ उसकी परिस्थितियों से बढ़कर है। और अपनी जन्मजात स्थितियों को मनुष्य अपने असाधारण पुरुषार्थ से बदल सकता है। गरीब से गरीब घर में पैदा हुआ बालक संसार में अपने पुरुषार्थ से अपना नाम प्रकाशित कर सकता है और अमीर से अमीर घर में उत्पन्न हुआ बालक अपने आपको नीचा गिरा सकता है। यह भी हम बतला चुके हैं कि जैन धर्म जन्म के आधार पर जातिगत ऊँच-नीच की व्यवस्था को कदापि नहीं मानता।[1] पर तब भी यह मानना होगा कि वंश परम्परा और वातावरण के पारस्परिक प्रभाव का जो विवाद आज के मनोविज्ञान में चल रहा है, हमें उसमें मध्यम मार्ग ही अपनाना होगा और यह मानना होगा कि हमारी परिस्थितियाँ और पुरुषार्थ यद्यपि हमारे जीवन में बहुत महत्त्वपूर्ण हैं पर जो कुछ मूलभूत सामग्री उन्हें प्राप्त होती है, वह जन्मजात ही होती है।

१. रत्नकरण्डश्रावकाचार, २८.

२३

# पुरुष : ईश्वर और ब्रह्म

योनिवाद के अनन्तर श्वेताश्वतरोपनिषद् में पुरुषवाद की चर्चा है। भारतीय दर्शन में पुरुष शब्द के अनेक अर्थ हैं, जिनमें तीन प्रमुख हैं—व्यक्ति, ईश्वर और ब्रह्म।

यदि हम व्यक्ति को सुख-दुख में सर्वथा स्वतन्त्र मानें तो यह बहुत हद तक सत्य है किन्तु उसकी यह स्वतन्त्रता उसके अपने कर्मों द्वारा सीमित भी है। अतः व्यक्ति उतनी सीमा तक सीमाओं में बंधा हुआ भी है। व्यक्ति जो कुछ करता है या जो कुछ है, उसका पूर्ण उत्तरदायित्व उस पर ही है। किसी भी सदाचार के पालन के लिए व्यक्ति को अपने कर्मों के लिए उत्तरदायी मानना आवश्यक है। किन्तु हम सत्य से मुंह नहीं मोड़ सकते। परिस्थितियाँ भी हैं और वे सत्य हैं। हमारे भूतकाल के कर्म ही हमारी वर्तमान परिस्थितियों के रूप में आ गये हैं और इस प्रकार व्यक्ति पूर्णतः स्वतन्त्र नहीं है।

पुरुष शब्द का एक दूसरा अर्थ ईश्वर लिया जाता है और यह ईश्वरवाद का सिद्धान्त समस्त संसार में व्याप्त है। संसार का एक ऐसा सर्वशक्तिमान स्वामी मान लिया गया है जो हम सबके भाग्यों को नियंत्रित करता है, हमें जन्म देता है, पालन करता है और प्रलय के समय संसार का नाश भी करता है।[1] इस सम्बन्ध में भी दोनों प्रकार की मान्यताएं हैं कि ईश्वर जो हमें कर्म-फल देता है, वह हमारे कर्मानुसार ही होता है या उसमें वह अपनी स्वेच्छा से हेरफेर भी कर देता है।

भारतवर्ष में इस ईश्वरवाद के सिद्धान्त का सर्वोत्तम प्रतिपादन गीता में है। हमें अपने व्यक्तित्व को पूर्णतः विसृजित करके, बिना शर्त अपने आपको ईश्वर के आगे समर्पित कर देना है।[2] अपने आपको उसकी इच्छा का एक उदासीन निमित्त मात्र मानना है। वही हमारे हृदय में स्थित हमें अपनी इच्छा-

१. जन्माद्यस्य यतः

—ब्रह्मसूत्र, १.१.२.

२. गीता, १८.६६.

नुसार घुमाता है। हमें सब कर्मफल उसे ही सौंप देने हैं।[१] किन्तु इसके साथ ही साथ गीता में सदाचार के पालन के लिए पूरा बल दिया गया है और इस प्रकार ईश्वर धर्माचरण के लिए एक सहायक और आवश्यक तत्त्व माना गया है।

ईसाइयों में बाइबल में ईश्वर की सत्ता को स्वतःसिद्ध माना गया है। इसमें किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं मानी गई। हमें एक ही ईश्वर की उपासना करनी है, अन्य देवी देवताओं की उपासना नहीं करनी। ईश्वर एक है।[२] वह आत्मा है,[३] पवित्र है, न्यायशील है,[४] दयालु है, और क्षमावान् है। वह छोटे से छोटे प्राणी का ध्यान रखता है।[५] ईसामसीह जो कि उसके पुत्र हैं, अपने पिता को किसी अन्य मनुष्य की अपेक्षा अधिक अच्छीप्रकार से जानते हैं।[६] इस प्रकार ईश्वर, ईसा मसीह और आत्मा मिलकर ईसाई मत के पवित्र त्रैत को पूर्ण करते हैं। परमात्मा मूल स्रोत है ईसा मसीह मध्यवर्ती शक्ति है और आत्मा उस शक्ति को प्रयोग में लाने वाली है और दैवी कार्य ईसा मसीह के माध्यम से ही परमात्मा का कार्य आत्मा के द्वारा सम्पन्न हुआ समझना चाहिए।[७]

स्पष्ट है कि हिन्दू धर्म और ईसाई धर्म में परमात्मा का जो स्वरूप है, उसमें कोई मौलिक भेद नहीं है। दोनों ही धर्मों में वह सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक, न्यायशील, दयालु और सर्वोपरि है। ईसाई धर्म में जो महत्त्व ईसा मसीह का है, हिन्दू धर्म में उसका स्थान कभी गुरु को दिया जा सकता है, और कभी किसी इष्टदेव को। ईसाई धर्म में ईश्वर के अतिरिक्त जो अन्य किसी देवता की उपासना का निषेध है, वह भी हमें आर्यसमाज की परम्परा में मिलता है।

इस्लाम में ईश्वर की एकता पर और भी अधिक बल दिया गया है। ईसाई धर्म में जिस त्रैत को माना गया है, उसका खण्डन इस्लाम में इस रूप में किया

१. गीता, १८.६१.
२. मार्क, १२.२९.
३. जॉन, ४.२४.
४. जॉन, १७.११, २५.
५. मैथ्यू, ६.३०.
६. मैथ्यू, ११.२७.
७. Hastings, James, *Encyclopaedia of Religion and Ethics*, Vol. VI, पृ० २६१.

गया कि ईश्वर और उसके पैगम्बर में विश्वास करो और यह मत कहो कि तीन हैं, क्षमाशील बनो क्योंकि यह तुम्हारे लिए अच्छा है। ईश्वर केवल एक ही है। यह उसकी महिमा के योग्य नहीं है कि उसके पुत्र हो[१] और जब ईश्वर कहेगा कि ओ जीसस, मेरी के पुत्र, क्या तुमने मनुष्यों से यह कहा है कि मुझे और मेरी माता को ईश्वर के अतिरिक्त दो अन्य ईश्वर मानो तो वह कहेगा कि आपकी जय हो, मैं वह कैसे कह सकता हूँ जिसे मैं सत्य नहीं समझता।[२]

मुसलमानों ने ईश्वर में निम्न सात गुण माने हैं—जीवन (हाया), ज्ञान (इल्म), शक्ति (कुद्र), इच्छा (इरादा), श्रवण (सम), दर्शन (बशर) और वचन (कलाम)।[3] जिस प्रश्न से हम यहाँ सम्बद्ध हैं उस प्रश्न की दृष्टि से इन गुणों को मानने या न मानने से कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता।

ईश्वर की कल्पना के पीछे मूल भावना यह है कि हर कर्म का कोई न कोई कर्ता होना चाहिए। अतः इस विश्व का भी एक कर्ता है। इस युक्ति को जैन दर्शन सुसंगत नहीं मानता। प्रश्न यह है कि ईश्वर ने इस संसार को सत् से उत्पन्न किया या असत् से ? असत् से तो किसी पदार्थ की उत्पत्ति हो नहीं सकती और यदि यह मानें कि सत् से संसार को उत्पन्न किया तो यह प्रश्न आएगा कि ईश्वर ने एक विशेष समय में संसार को जन्म देने की इच्छा क्यों की? जैसाकि सांख्यतत्त्वकौमुदी में कहा गया है कि ईश्वर का सृष्टि में स्वयं का तो कोई स्वार्थ हो नहीं सकता क्योंकि वह पूर्ण है और यदि उसने संसार को परोपकार की दृष्टि से उत्पन्न किया तो सृष्टि के पूर्व आत्माओं को कोई कष्ट तो था नहीं, जिससे मुक्त करने के लिए उसने ऐसा किया हो और फिर परोपकार की दृष्टि से संसार का सृजन करने वाला केवल सुखमय संसार ही बनाता।[४] ऐपीक्यूरस का उभयतःपाश अभी भी हमारे साथ है, 'यदि ईश्वर बुराई को होने देना चाहता है तब तो वह द्वेषी है और यदि वह बुराई को नहीं होने देना चाहता किन्तु इसे रोक नहीं सकता, तो वह सर्वशक्तिमान् नहीं है'।[५]

ईश्वर ने संसार को जिन सत् पदार्थों से बनाया, वे सत् पदार्थ तो अनादि काल से चले ही आते हैं और वे स्वयं ही संसार को भी अनादिकाल से जन्म

१. Hastings, James, *Encyclopaedia of Religion and Ethics*, Vol. VI, पृ० २६१.
२. वही, पृ० ३००.
३. वही, पृ० ३००.
४. सांख्यतत्त्वकौमुदी, सांख्यकारिका, ५०.
५. W.R. Sorley and others, *The Elements of Pain and Conflict in Human Life*, पृ० ४८.

देते हुए आ सकते हैं। अग्नि में जलाने की शक्ति ईश्वर की इच्छा से नहीं है, क्योंकि हम ऐसी अग्नि की तो कल्पना ही नहीं कर सकते, जिसमें जलाने की शक्ति न हो।

किन्तु इन सब युक्तियों का यह अर्थ नहीं है कि जैन सिद्धान्त ने ईश्वर को नहीं माना। उसने ईश्वर को एक अनादिसिद्ध जगत्स्रष्टा चाहे नहीं माना, पर एक साध्य और मनुष्य के जीवन के चरम और सर्वोत्तम विकास के रूप में अवश्य स्वीकार किया है। क्रिया-प्रतिक्रिया के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त के आधार पर मनुष्य अपने कर्मों का फल स्वयं पाता है। इसके लिए उसे किसी न्यायाधीश की आवश्यकता नहीं है। अतः वे सिद्ध जो अनन्त ज्ञान, शक्ति, दर्शन और सुख से सम्पन्न हैं, हम जैसे ही प्राणी थे, संसार में भटक रहे थे, उनमें भी अज्ञान था, कषाय था पर उन्होंने उस अज्ञान और कषाय पर विजय पायी और सर्वदा के लिए विजय पायी। इस प्रकार वे एक ऐसी स्थिति में पहुँच गये जहाँ उन्हें राग और द्वेष नहीं सताते।

वे सिद्ध हमारे लिए आलोक-स्तम्भ हैं, आदर्श हैं। उनका जीवन इस बात का प्रमाण है कि जीवन में बड़ी से बड़ी सम्भावना गुप्त रूप से निहित है जो पुरुषार्थ द्वारा अभिव्यक्त हो सकती है। इन सिद्धों का ध्यान वस्तुतः अपने लक्ष्य का ध्यान है। ये सिद्ध परमेष्ठी हैं, परमेश्वर हैं। वे एक नहीं हैं। और न वे अकेले परमेश्वर हैं। उनके साथ साथ चार परमेष्ठी और हैं—अरिहन्त, आचार्य, उपाध्याय और साधु। ये सब हमारे जीवन मार्ग के आलोक स्तम्भ हैं। णमोकार मन्त्र में सर्वप्रथम अरिहन्तों को नमस्कार किया गया। तदनन्तर सिद्धों को फिर आचार्य उपाध्याय और साधुओं को। यह णमोकार मन्त्र जैन धर्म की भक्ति परम्परा का अनादिनिधन मन्त्र है। सिद्धों की अपेक्षा अरिहन्त हमारे अधिक निकट हैं क्योंकि उनका शरीर है और वे संसार में दृश्य रूप में रहते हैं। उनका उपदेश हमारे साक्षात् कल्याण का कारण है, अतः प्रथम नमस्कार उन्हें किया गया। उससे पूर्व जो उस सफलता को प्राप्त कर चुके हैं, उन सिद्धों को नमस्कार उनके अनन्तर किया गया और फिर आचार्य, उपाध्याय और साधुओं को नमस्कार किया गया जो उस लक्ष्य तक पहुँचे तो नहीं पर उस पथ के पथिक अवश्य हैं। इस प्रकार जैन धर्म व्यक्ति की उपासना नहीं करता, सिद्धान्त की उपासना करता है और परावलम्बन को निकृष्ट समझता है चाहे वह परावलम्बन ईश्वर का ही क्यों न हो।

२४

# पञ्चपरमेष्ठी : व्यक्ति

जैन धर्म का मूल सिद्धान्त है आत्मनिष्ठा। पञ्चपरमेष्ठी इसलिये नहीं है कि हम उनका आश्रय लें। जो व्यक्ति पुरुष में ब्रह्म को जानता है, वही परमेष्ठी को जानता है।[1] पुरुष में ब्रह्म को जानने का यह सिद्धान्त समस्त भारतीय परम्परा की एक अमूल्य निधि है। छान्दोग्योपनिषद् में गुरु ने श्वेतकेतु को इसी तथ्य का ज्ञान कराया कि हे श्वेतकेतु! वह ब्रह्म तुम स्वयं ही हो, जिसकी तुम्हें उपासना करनी है।[2] पञ्चास्तिकाय में कहा गया कि जिसने आत्मसाक्षात्कार नहीं किया चाहे वह पदार्थों का तत्त्वज्ञ भी हो, तीर्थंकरों का भक्त भी हो, शास्त्र में रुचि भी रखने वाला हो, और संयम तथा तप का पालन भी करने वाला क्यों न हो किन्तु निर्वाण अभी उससे बहुत दूर है।[3] महाभारत ने इसी परम्परा में घोषणा की, कि संसार में मनुष्य से बढ़कर श्रेष्ठ और कुछ नहीं है। दशवैकालिक सूत्र ने कहा कि जो व्यक्ति धर्म का पालन करता है, उसके सामने देवगण भी प्रणत हो जाते हैं। देवता लौकिक सम्पत्ति और विभूति के चरम विकास के प्रतीक हैं और धर्म आत्मविकास की परिणति है।

इस प्रकार जैन दर्शन ने हमें श्वेताश्वतरोपनिषद् में गिनाये हुए काल स्वभाव, नियति, यदृच्छा, भूत, जन्म और पुरुष इन बाह्य तथ्यों से मुक्ति का मार्ग यह सुझाया कि व्यक्ति पुरुषार्थी बने, आत्मावलम्बी बने। क्योंकि श्वेताश्वतरोपनिषद् भक्ति परम्परा पर अधिक बल देती है इसलिये उसने सुख दुखों का कर्ता आत्मा को भी नहीं माना, आत्मा को भी असमर्थ माना।[4] शायद

१. ये पुरुषे ब्रह्म विदुस्ते विदुः परमेष्ठिनम्
—अथर्ववेद, १०.७.१७.

२. तत्त्वमसि श्वेतकेतो
—छांदोग्योपनिषद् ६.८.४.

३. सपयत्थं तित्थयरं अभिगदबुद्धिस्स सुत्तरोइस्स
दूरतरं णिव्वाणं संजमतवसंपओत्तस्स।
—पंचास्तिकाय, १७०.

४. आत्माप्यनीशी सुखदुःखहेतोः
—श्वेताश्वतरोपनिषद् १.१.१२.

वह यह कहना चाहती है कि सुख दुख भगवान के अधीन हैं। व्यक्ति अपने आपको भगवान् के आगे पूर्णतः समर्पित कर दे, सुख का यही एकमात्र मार्ग है।

किन्तु इस भक्तिभाव या ईश्वरवाद का भी यदि हम पूर्णतः खण्डन करेंगे, तो ऐसा प्रतीत होगा कि अनेकान्त की मूल आत्मा का हनन हो रहा है। जैनाचार्यों ने ऐसा किया भी नहीं। उन्होंने भक्ति भाव से भरे हुए अद्भुत स्तोत्रों का निर्माण किया। और इस प्रकार जैन परम्परा को भक्ति की रसधारा से शुष्क होने से बचाया। प्राणी को अनन्त काल से परावलम्बन की आदत है जो अकस्मात् नहीं छूट सकती। यदि औपचारिक रूप से परावलम्बन अस्थायी रूप से ग्रहण किया जाए तो भी वह साधन स्वावलम्बन का ही होना चाहिये।

२५

# सम्यग्दर्शन : सच्चा श्रोता

हमने इस काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, भूत, योनि, पुरुष और आत्मवाद की चर्चा में अपने विवेचन को कुछ शास्त्रीय बना दिया। शास्त्र सत्य का सहायक है। किन्तु सर्वदा शास्त्र सत्य का सहायक नहीं होता। हमने देखा कि ऊपर जिन भी वादों का हमने उल्लेख किया है, उनका दुरुपयोग भी हो सकता है और सदुपयोग भी हो सकता है और सभी शास्त्रसिद्धान्तों का दुरुपयोग भी हुआ है, सदुपयोग भी हुआ है। वस्तुस्थिति यह है कि हमें शास्त्र के सिद्धान्त का दर्शन नहीं होता प्रत्युत शास्त्र के सिद्धान्त का जो प्रतिबिम्ब हमारे मन पर पड़ता है, उसका दर्शन होता है। शास्त्र को या शास्त्र के सिद्धान्तों को सीधा सुन सकें, उसमें हमारा अपना व्यक्तित्व न आए, इसका उपाय क्या है ? श्रावक अर्थात् शास्त्र का सुनने वाला कौन है ? हम शास्त्र को नहीं सुनते, शास्त्र के वाक्यों को सुनकर जो प्रतिक्रिया हममें पैदा होती है, उसे सुनते हैं। हम श्रावक नहीं हैं। श्रावक वह है जो अपने मन को इतना शान्त बना ले, इतना निर्मल और सुस्थिर बना ले कि अपनी प्रतिक्रियाओं से हटकर शास्त्र की या गुरु की वाणी सुन सके। ऐसे श्रावक के लिये समस्त शास्त्र-सिद्धान्त सम्यक् हैं। जो शास्त्रों के सिद्धान्तों को अपनी दृष्टि से रंग कर देखते हैं, उन्हें शास्त्रों से कुछ नहीं मिलता, केवल अपने मन में बैठे हुए राग और द्वेष का पोषण मिलता है। वे शास्त्र का श्रवण नहीं करते, अपने विकृत व्यक्तित्व में से छन कर आये हुए शास्त्र के अभिप्राय के विकृत रूप का श्रवण करते हैं।

श्रावक को सम्यक् दृष्टि होना चाहिए। संसार के सब पदार्थों का हम दर्शन करते हैं। पर हमारा यह दर्शन सम्यक् दर्शन नहीं है। मिथ्या दर्शन है। क्योंकि हम संसार के पदार्थों का दर्शन नहीं करते, उन संसार के पदार्थों के सम्बन्ध में अपनी मन की प्रतिक्रिया का दर्शन करते हैं। सम्यक् दर्शन वह है जो अपने को तटस्थ रखकर संसार का दर्शन किया जाता है। समस्त पदार्थों से अपने सम्बन्ध को तोड़कर अपने राग और द्वेष को छोड़कर संसार का दर्शन किया जाता है, उस समय संसार में एक अद्भुत सौंदर्य का दर्शन होता है।

क्योंकि जब हम संसार के प्रत्येक पदार्थ से अपना सम्बन्ध तोड़ लेते हैं तब संसार के प्रत्येक पदार्थ भी हम से अपना सम्बन्ध तोड़ देते हैं। उस समय संसार के पदार्थों का हमारी दृष्टि से निरपेक्ष वस्तुलक्षी स्वभाव प्रकट होता है क्योंकि व्यक्तिपरक दृष्टि समाप्त हो जाती है।

हम स्वयं संसार के सम्बन्धों के अतिरिक्त और क्या हैं ? किसी के पुत्र, किसी के पिता, किसी के पति, किसी के स्वामी, किसी के अनुचर, किन्तु यदि इन सब सम्बन्धों का विच्छेद कर दें तो हम क्या रह जाएँ ? एक अकेली इकाई और जब इस अकेली इकाई का अनुभव होता है तब हमें लगता है कि हम कौन हैं ? उस समय जैसे संसार के सब सहारे हम से छूट जाते हैं और जब संसार के समस्त सहारे हमसे छूट जाते हैं, हम निराधार हो जाते हैं तो हमारी जीवन शक्ति एक आधार की खोज करती है और उसे वह आधार स्वयं में ही मिल जाता है। और यह स्वयं का आधार अन्य आधार की अपेक्षा कहीं अधिक सुदृढ़, सुस्थिर और स्वाधीन है। उस समय संसार के अच्छे से अच्छे आधार भी स्वावलम्बन के आगे दुःखरूप नजर आने लगते हैं। दुःख का पहचान लेना ही दुःख से मुक्ति है। क्योंकि कोई व्यक्ति दुःख की सचाई को जानकर दुःख में नहीं रहना चाहेगा और जो व्यक्ति दुःख में नहीं रहना चाहेगा उसे संसार की कोई शक्ति बलपूर्वक दुःख में नहीं रख सकती। किन्तु यदि हम स्वयं दुःख को ही सुख मानकर उससे चिपटा रहना चाहें तो संसार की कोई शक्ति हमें उससे पृथक् भी नहीं कर सकती।

२६

# मुनि : ध्यानपद्

हमने ऊपर कहा कि शास्त्र हमारे लिये तभी सहायक हो सकते हैं जब हम सम्यक् दृष्टि हों, सत्य श्रावक हों। सच्चे श्रवण ग्रौर दर्शन के बाद मुनि पद ग्रर्थात् सच्चा मौन प्रारम्भ होता है। मौन ग्रर्थात् संसार की किसी क्रिया, किसी विचार, किसी दृश्य की कोई प्रतिक्रिया नहीं करना। केवल उसे जानना, उसे देखना, केवल साक्षी, द्रष्टा, चेत्ता बने रहना। यह मुनिपद है। क्योंकि यहाँ मौन है। इस मौन में ध्यान का ग्रवतार होता है। ध्यान कोई क्रिया नहीं है। ध्यान समस्त क्रियाग्रों का ग्रभाव है। पर ध्यान समस्त क्रियाग्रों का ग्रभाव भी नहीं है। ध्यान केवल क्रिया है, प्रतिक्रिया नहीं है। समस्त क्रिया का ग्रभाव तो मूच्छित ग्रवस्था में होता है। मूच्छित ग्रवस्था शायद बहुत कुछ निगोद ग्रवस्था जैसी है। वहाँ क्रिया का ग्रभाव है। पर वह ध्यान नहीं है। ध्यान में पूर्ण जागरूकता है, पूर्ण चैतन्य है। ग्रक्रिया में हम जड़ के साथ, शरीर के साथ एकाकार हो जाते हैं ग्रौर हमारा चैतन्य जैसे मर जाता है। यह सुषुप्ति है। किन्तु ध्यान में हम चैतन्य के साथ एकाकार हो जाते हैं ग्रौर हमारा जड़, हमारा शरीर जैसे मर जाता है। ग्रौर इस ध्यान से ज्ञान उत्पन्न होता है। वह ज्ञान जो सब ज्ञान का मूल है, केन्द्रबिन्दु है, ग्रर्थात् स्व का ज्ञान। जब स्व का ज्ञान होता है, तब ग्रन्य पदार्थों का ज्ञान निरर्थक हो जाता है। इस ज्ञान में जानना है, सीखना नहीं। शास्त्रों का ग्रध्ययन हमें सिखाता है ग्रौर हम जो कुछ सीखते हैं, उन्हें ग्रपनी स्मृति में सुरक्षित रखते जाते हैं ग्रौर ग्रवसर ग्राने पर हम उन्हें दुहरा देते हैं। यह कार्य एक यांत्रिक कार्य है। यह कार्य ग्रात्मा के गौरव के ग्रनुकूल नहीं है। मनुष्य के लिये यह ग्रनुरूप नहीं है कि वह केवल यन्त्र बना रहे। किन्तु जितना हमारा सीखना है, वह सब यान्त्रिक क्रिया है। जैसा हमने सीखा, वैसा हमने दुहरा दिया। इसमें ग्रनुभूति नहीं है। ग्रौर जहाँ ग्रनुभूति होती है, वहाँ शब्द नहीं हो सकते। क्योंकि शब्द हमें ग्रनुभूति के स्तर से हटा कर विचारों के स्तर पर ले ग्राते हैं; वहाँ संकल्प हैं ग्रौर जहाँ संकल्प हैं वहाँ पारस्परिकता है, वहाँ सम्बन्ध-सापेक्षता है ग्रौर जहाँ सम्बन्ध-सापेक्षता है वहां न तो सत्य का दर्शन है ग्रौर

न अनुभूति । जिन दो पदार्थों में अपने में और पर में हम सम्बन्ध जोड़ लेते हैं, वह सम्बन्ध न हमें पर-पदार्थ का वस्तुपरक ज्ञान होने देता है, और न अपना वस्तुपरक ज्ञान होने देता है । वह मिथ्या ज्ञान है, सम्यक् ज्ञान नहीं है ।

इन सम्बन्धों के संसार में रहते हुए इन शब्दों के और विचारों के स्तर पर रहते हुए व्यक्ति अपनी आन्तरिक क्षुद्र भावनाओं में इतना व्यस्त रहता है कि उसे वस्तु के श्रवण, दर्शन, ज्ञान और ध्यान का अवकाश ही नहीं मिलता । वह इन सम्बन्धों का ही श्रवण करता है, दर्शन करता है, ज्ञान प्राप्त करता है, और ध्यान करता रहता है । हमने कहा कि हमारे अपने अन्दर कुछ क्षुद्र व्यस्तताएँ हैं । अपने आन्तरिक भावों पर यदि हम शान्त मन से विचार करें तो हमें अपने पर हंसी आये बिना नहीं रहेगी । छोटी छोटी सी बात पर हम कितने अधिक उत्तेजित हो जाते हैं, मानों वह छोटा-सा प्रश्न हमारे जीवन-मरण का प्रश्न हो । और जो वस्तुतः हमारे जीवन-मरण का प्रश्न है—अपने स्वरूप का बोध, जीवन के प्रत्येक क्षण में जागरूकता—उसके प्रति हम कितने उदासीन हैं, कितने सुप्त हैं । जीवन इतना छोटा है कि उसे छोटी-छोटी बातों के लिये नहीं गंवाया जा सकता ।

हमने प्रारम्भ में कहा कि हमारा अपने से संघर्ष चल रहा है । किन्तु इस संघर्ष का अन्त किसी संघर्ष से नहीं होगा । हमारे अपने स्वरूप के दर्शन से और ज्ञान से जो हममें असंगतियाँ हैं, जो हममें विरोध हैं, वे स्वतः दूर हो जाएँगे । यदि हमने अपने स्वरूप को सम्बन्धों से पृथक् करके जान लिया, यदि हमने शब्दों को अपनी व्यक्तिगत प्रतिक्रियाओं से मुक्त होकर श्रवण करना सीख लिया, यदि हमने अपनी बुद्धि को रागद्वेष से पृथक् रखकर विश्व का दर्शन करना प्रारम्भ कर दिया, तो हमें अपने अन्दर बैठा हुआ एक केन्द्र उपलब्ध हो जाएगा, एक अहं का केन्द्र जिसमें केवल सत्ता है, क्रिया नहीं है और जिसकी यदि क्रिया है भी, तो वह किसी बाह्य क्रिया की प्रतिक्रिया नहीं है ।

इस सारी प्रक्रिया को बड़े सहज ढंग से करना है । क्योंकि हमें अपने स्वभाव की उपलब्धि करनी है, किसी बाह्य पदार्थ की प्राप्ति के लिये संघर्ष नहीं करना है । ध्यान की प्रक्रिया जो चित्त की निर्विचार अवस्था से उत्पन्न होती है, इसका एकमात्र साधन है । यह निर्विचारता भी विचार से ही उत्पन्न होती है, किन्तु निर्विचारता को उत्पन्न करने वाला विचार निर्विचारता को जन्म देकर स्वयं भी समाप्त हो जाता है । जैसे किसी कांटे से कांटे को निकालने के बाद वह कांटा भी निकाल कर फेंक दिया जाता है । उसे संजोकर नहीं रखा जाता । हमने यदि विचारों को पकड़ लिया, शास्त्र वचनों को पकड़ लिया, तो हम इस निर्विचार समाधि की स्थिति में

नहीं पहुँच पाएँगे। शास्त्र हमें सत्य का मार्ग दिखलाते हैं, सत्य की प्राप्ति नहीं करा सकते। क्योंकि सत्य मैं स्वयं हूँ और वह मेरे से बाहर न शास्त्र में है, न गुरु के उपदेश में, न मन्दिर में। सबको अपना-अपना सत्य स्वयं खोजना होता है क्योंकि सत्य को किसी दूसरे को न दिया जा सकता है न दूसरे से लिया जा सकता है। वह हमारा स्वरूप है, हमारा परिग्रह नहीं है, जिसे हम कभी उतार सकें और कभी धारण कर सकें, कभी किसी को दे सकें और कभी किसी से ले सकें।

सारी यात्रा सम्यक् दर्शन से, श्रवण से प्रारम्भ होती है और उसका अन्त ध्यान पर होता है। यहाँ आकर सारे भारतीय दर्शन एक हो जाते हैं कि जीवन का चरम लक्ष्य एक ऐसी निर्विचार अवस्था है जहाँ स्व अपने में स्थित हो जाता है। हमने यहीं से प्रारम्भ किया था कि धर्म वस्तु का स्वभाव है और धर्म के समस्त विवेचन का अन्तिम निष्कर्ष भी यही है कि धर्म स्वरूप में स्थिति है यही सम्यक् चारित्र्य है, जो कुछ हम इसके अतिरिक्त अच्छे आचरण के नाम पर करते हैं, उसमें कहीं न कहीं कोई न कोई वासना है, स्वर्ग की इच्छा, मोक्ष की इच्छा, धर्मपालन की इच्छा, और जहां तक इच्छा है, वहाँ तक संसार है। जहाँ स्वरूप की प्राप्ति की इच्छा है, वहाँ भी धर्म नहीं है, बन्धन ही है। इसीलिए हमने कहा कि इसे बहुत सहज भाव से करना है। हमारे जन्म जन्मान्तरों के संस्कार, वासनाएँ, कहीं न कहीं हमारे मन में प्रतिक्रिया को जगाकर हमारे सहज स्वरूप को बाधित कर देती हैं। हमारी वृत्ति को बारम्बार धकेल कर बहिर्मुखी बना देती हैं और हमारे ध्यान, हमारी साधना के मार्ग में बाधा आ जाती है। हमें इन बाधाओं से सावधान रहना है, इन्हें विलीन भी करना है पर इस ढंग से नहीं कि एक छोटी बाधा को समाप्त करने के लिए उससे बड़ी बाधा उत्पन्न कर लें।

२७

# मुक्ति : प्रेम और आनन्द

मूल सूत्र है स्वतन्त्रता। स्वतन्त्रता का अर्थ है कि दूसरे मेरे मार्ग में बाधा न बनें। और दूसरे मार्ग में बाधा न बनें, इसकी अनिवार्य प्रतिक्रिया यह है कि मैं दूसरों के मार्ग में बाधा न बनूं। मैं दूसरों के मार्ग में केवल उनसे द्वेष करके ही बाधा नहीं बनता। उनसे राग करके भी मैं उनके मार्ग में बाधा बनता हूँ। क्योंकि उनसे राग करके मैं उनसे कुछ चाहता हूँ। और इस प्रकार उनके अधिकार में, उनके सुख में संविभागी बनता हूँ, उनकी स्वतन्त्रता को काटता हूँ। बदले में वे भी मुझसे कुछ अपेक्षा करने लगते हैं और इस प्रकार वे मेरी स्वतन्त्रता में बाधक बनते हैं।

स्वतन्त्रता का अर्थ है कि मैं किसी के मार्ग में बाधक न बनूँ ताकि कोई मेरे मार्ग में बाधक न बने। मैं किसी के मार्ग में बाधक न बनूं इसका यह अर्थ है कि मैं किसी से द्वेष न करूँ और साथ ही किसी से कुछ अपेक्षा भी न रखूं अर्थात् राग भी न करूँ। मैं किसी से कुछ अपेक्षा न रखूं यह तभी सम्भव है जब मुझे अपनी स्वयं की शक्ति पर विश्वास हो। मुझे जो कुछ अभाव अपने अन्दर खलता है, मैं उसकी पूर्ति पदार्थों का संग्रह करके करना चाहता हूँ। इस प्रकार मेरे आन्तरिक अभाव मिटते तो नहीं, छिप अवश्य जाते हैं। किन्तु आन्तरिक अभावों को इस प्रकार छिपा लेना अपने किसी रोग को छिपा लेने की तरह है, उससे वह रोग शान्त नहीं होता, अन्दर ही अन्दर गहरा होता चला जाता है। अपने आन्तरिक अभावों को हम बाह्य पदार्थों के संग्रह से छिपा लेते हैं। पर इससे हमारे आन्तरिक अभावों की जो तीव्र वेदना है, जो हमें उस आन्तरिक अभाव से छुटकारा दिला सकती थी, वह वेदना भी दब जाती है। हम मूर्च्छित हो जाते हैं, संग्रह की मूर्च्छा से मूर्च्छित। इस प्रकार हम अपने अन्तर में सब अभावों की पूर्ति बाह्यसंग्रहों से करना चाहते हैं पर बाह्य पदार्थों का अवलम्बन हमें स्वावलम्बी नहीं होने देता और हम यह आलम्बन केवल लौकिक पदार्थों का ही नहीं लेते अलौकिक पदार्थों का भी लेते हैं—देवताओं का आलम्बन, पुण्य की शरण, शास्त्र का आश्रय, ईश्वर का

ग्राधार और इस प्रकार हम हमेशा दूसरों का मुंह ताकते हैं। कभी भी हममें वह आत्मविश्वास नहीं जागता। हममें जब ज्ञान का अभाव होता है तो हम उसकी पूर्ति शास्त्रों से, गुरुओं से और दूसरों के उपदेशों से सूचनाएँ इकट्ठी करके करते हैं। हममें जब प्रेम का अभाव होता है, हम जब सबको अपना नहीं समझ सकते, और हमें जब ऐसा लगता है कि बदले में कोई हमें भी अपना नहीं समझता, तब हम उस प्रेम अनुभव के अभाव की पूर्ति स्त्री, पुत्र और सम्बन्धियों को अपना समझकर और इस भ्रम में रहकर कि वे सब मुझे चाहते हैं, कर लेते हैं। पर प्रेम करने का और प्रेम पाने का जो अलौकिक सुख है, उससे हम वंचित रह जाते हैं।

प्रेम उसका नाम है जो समस्त संसार को अपने में समा ले और अपने को समस्त संसार में समा दे। प्रेमी के हृदय में इतना अधिक स्थान होता है कि उसमें समस्त संसार समा सकता है किन्तु प्रेमी के हृदय में अहं के लिए तनिक भी स्थान नहीं होता। प्रेमी का प्रेम राग से भिन्न है। क्योंकि राग किसी आन्तरिक अभाव की पूर्ति के लिये किया जाता है और प्रेम अन्तर की पूर्णता से प्रस्फुटित होता है। प्रेम चित्त के निर्मल हो जाने पर उससे प्रवाहित होने वाली एक ऐसी सहज स्वाभाविक क्रिया है, जो दूसरों की प्रतिक्रिया की अपेक्षा नहीं रखती। सूर्य में से प्रकाश प्रस्फुटित होता है। किन्तु सूर्य उस प्रकाश के द्वारा दूसरों की किसी प्रतिक्रिया की अपेक्षा नहीं रखता। फूल में से सुगन्ध निकलती है, वह किसी व्यक्ति विशेष के लिए नहीं निकलती, बल्कि इसलिये निकलती है कि वह फूल में है और या तो उसे इधर उधर बिखरना होगा और नहीं तो वह सुगन्ध फूल में बन्द रहकर दुर्गन्ध बन जाएगी। पर वह गन्ध किसी के उपकार के लिए, किसी की भलाई के लिए, किसी को सुख पहुँचाने के लिए नहीं निकलती और इसलिए बदले में किसी से प्रत्युपकार भी नहीं चाहती। सूर्य और फूल देना ही जानते हैं, लेना नहीं जानते, प्रेम भी देना ही जानता है, लेना नहीं जानता। स्वयं प्रेम को यह पता भी नहीं होता कि वह दे रहा है इसलिए उसमें यह अहंकार भी नहीं होता कि वह देने वाला है और उसे यह आकांक्षा भी नहीं होती कि उसके उपकार के बदले में कोई उस पर उपकार करेगा। ऐसा प्रेम जब जीवन में व्याप्त हो जाता है तब आन्तरिक अभावों की सच्ची पूर्ति हो जाती है। अहंकार की गति बड़ी सूक्ष्म है। त्याग का तो अहंकार होता ही है, अहंकार इस बात का भी हो सकता है—और यह अहंकार अधिक भयानक है—कि मुझे अहंकार नहीं है। जब तक अहंकार का विसर्जन नहीं है तब तक प्रेम नहीं है और जब तक प्रेम नहीं है तब तक न विकास है न पूर्णता। बीज अपने अहंकार को खोकर

वृक्ष बनता है और उसमें से फूल और फल विकसित होते हैं, सरिता अपनी सत्ता को मिटा कर सागर में पूर्णता पाती है। और वह व्यक्ति जिसने जन्म तो लिया पर अहंकार का विसर्जन नहीं किया, बीज ही बना रहता है, वृक्ष नहीं बनता। वह व्यक्ति जिसने जीवन पाया तो सही, किन्तु अपने अहं को नहीं खोया, उसकी जीवन-सरिता मौत की मरुस्थली में जाकर शुष्क हो जाती है, किन्तु पूर्णता के सागर में जाकर एकाकार नहीं हो सकती।

प्रेम करना सिखलाया नहीं जा सकता और जिसे हम सिखलाते हैं, वह प्रेम नहीं होता, मात्र एक शिष्टाचार होता है। प्रेम ही जीवन की सरिता को परमात्मा के समुद्र तक धकेल कर ले जा सकता है। धर्म भी सिखलाया नहीं जा सकता जिसे हम सीखते हैं, वह मात्र एक शिष्टाचार होता है। धर्म ही हमें अपने स्वरूप का ज्ञान करा सकता है। अपने स्वरूप का ज्ञान कहीं और से प्राप्त नहीं किया जा सकता। स्वयं अपनी अन्तर्दृष्टि से देखना होता है। बाहर से प्राप्त किया ज्ञान इतना घनीभूत अज्ञान है, कि उसमें हमें अपने अज्ञान का ही बोध होना बंद हो जाता है। ज्ञान का प्रारम्भ और अन्त तो आत्म-साक्षात्कार पर है।

सत्य का बोध हर व्यक्ति को पृथक्-पृथक् करना है क्योंकि असत्य का बोध भी उसे पृथक्-पृथक् ही हुआ है। संसार एक नहीं है क्योंकि व्यक्ति एक नहीं है और संसार हमारे बाहर नहीं हैं, हमारे अन्दर है। और हमारा संसार वह है, जो हमारे अन्दर है। यह संसार सबका पृथक्-पृथक् है। इसलिए इस संसार से मुक्ति भी सबकी पृथक् पृथक् है। जो स्वतन्त्रता का बना बनाया मार्ग सिखलाना चाहते हैं, वे हमें स्वतन्त्र नहीं बनाते, परतन्त्र बनाते हैं क्योंकि एक निश्चित और बने बनाये मार्ग पर चलने में स्वतन्त्रता कैसी ? रेल को, जिसे पटरी पर ही चलना है, कोई स्वतन्त्रता नहीं है। हमारा बोध, हमारा सत्य का ज्ञान, हम से प्रारम्भ होगा, शास्त्र या गुरु से नहीं।

और पाप भी हमसे ही प्रारम्भ होता है। पाप की ज्वाला तो जहाँ जिस अन्तःकरण में जलती है, उसे अधिक जलाती है। यह दूसरी बात है कि उसकी चिंगारियाँ कुछ दूसरों पर भी प्रभाव डालें, पर उनका वास्तविक प्रभाव तो स्वयं पर होता है, दूसरे के प्रति किया गया अपराध दूसरे के प्रति किया गया अपराध नहीं है, वह अपने प्रति किया गया अपराध है। हमारी अपनी ही किसी कलुषित वृत्ति के प्रति घृणा हम दूसरे पर आरोपित कर लेते हैं। पाप का मूल स्वयं में है क्योंकि पाप का मूल अज्ञान में है। अज्ञान अर्थात् सूचनाओं का अभाव नहीं, प्रत्युत स्वयं के स्वरूप का अज्ञान है। स्वयं का स्वरूप जो हमें

आत्मविश्वास देता है, जो हमें अपनी समस्याओं को सुलझाने की दृष्टि देता है, शक्ति देता है, और अन्ततः स्वतन्त्रता भी देता है।

हमने कहा कि हमारा स्वरूप सुख रूप है। वस्तुतः यह इतना सत्य नहीं है। सत्य यह कहना होगा कि जो हमारा स्वरूप है, वह सुख है। सुख अपने आप में कोई एक स्वतन्त्र कोटि नहीं है, जो हममें रहती हो। प्रत्युत जो हमारा अपना सहज स्वभाव है, वह हमें अनुकूल पड़ता है, उसे ही हम सुख कहते हैं ऐसा कहना अधिक ठीक होगा। पर की दृष्टि से देखें तो धर्म का अर्थ है अहिंसा और अपरिग्रह। स्व की दृष्टि से देखें तो धर्म का अर्थ है अप्रमाद और अमूर्च्छा। प्रमाद में और मूर्च्छा में कोई विशेष अन्तर नहीं है। प्रमाद का अर्थ है जीवन का, जीवन के प्रत्येक क्षण का पूर्ण उपभोग न करना, भूत की कल्पनाओं में या भविष्य की आशाओं में डूबे रहना और वर्तमान में सोये रहना पर जब भविष्य वर्तमान बनता है तब हम उससे आगे के भविष्य की आशाओं में खोये रहते हैं और हमारा वर्तमान हमेशा ही प्रमाद में बीत जाता है। और हमारे इस वर्तमान के प्रमाद से हमारे जीवन में जो एक गहरा विषाद छा जाता है, उस गहरे विषाद को अस्थायी रूप से हमें प्रतीत न होने देने में हमारी मूर्च्छा, हमारी अजागरूकता, हमारी सहायता करती है। यदि हमारी मूर्च्छा टूट जाय, तो हमें अपने वर्तमान जीवन को पूर्णतः न भोगने की इतनी अधिक तीव्र वेदना हो कि हम अकस्मात् हड़बड़ाकर जाग जाएँ, सावधान हो जाएँ, हमारा प्रमाद भी टूट जाए। और यदि हमारा प्रमाद टूट जाए तो फिर हमें कोई वेदना ही न रह जाए जिसे भुलाने के लिए हमें मूर्च्छित रहने की आवश्यकता रह जाए। और ऐसी स्थिति में हम अपने में पूर्ण शक्ति से स्थिर रह सकें, अपने स्वरूप का पूर्ण उपभोग कर सकें, तब हमारा ब्रह्मचर्य, ब्रह्म में आचरण सफल होगा। इस क्षण में हमें आत्मबोध होगा, जोकि परम सत्य है और जिस सत्य के बिना संसार के समस्त सत्य भी असत्य ही हैं। इस क्षण में हममें से एक शान्त, शीतल, आत्मविश्वास से भरी हुई दूसरे की प्रतिक्रिया से निरपेक्ष प्रेम की धारा प्रवाहित होगी जिसमें न द्वेष होगा, न राग, यह अहिंसा है। इस प्रकार वहां अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह पाँचों व्रतों की एकता होगी। इसलिए तो शास्त्रकार यह मानते हैं कि पाँचों व्रत जब भी अपनाये जा सकते हैं, एक साथ पाँचों के पाँचों अपनाये जा सकते हैं। इनमें से किसी एक दो तीन या चार का शेष व्रतों को छोड़कर पालन नहीं हो सकता। इसके विपरीत जो प्रमाद और मूर्च्छा में जीवित रहते हैं, वे जीवित नहीं रहते, धीमे धीमे जीवन के दिये के बुझने की प्रतीक्षा करते हैं। जीवन का अर्थ ही है ज्ञान। ज्ञान का

अर्थ ही है जागरूकता। जागरूकता का अर्थ ही है अप्रमाद। और अप्रमाद का अर्थ ही है अमूर्च्छा। अमूर्च्छा का अर्थ ही है ब्रह्मस्थिति। और ब्रह्मस्थिति का अर्थ है स्वस्थिति जो सच्चा स्वास्थ्य है। जहाँ परपदार्थ की अपेक्षा नहीं है। स्तेय का प्रश्न ही नहीं उठता। इस प्रकार धर्म के जो भी अंग हैं, वे जीवन धर्म हैं, वे जीवन में जीने के लिये हैं, उनके कोरे अध्ययन का कोई अर्थ नहीं है। उन पर चिन्तन का कोई अर्थ नहीं है। उन्हें व्यावहारिक जीवन में जीना ही उनका अध्ययन है। यही उनका मनन है। यही चिन्तन है।